

॥ तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत ॥

॥ संक्षिप्तशास्त्रार्थप्रकरण ॥

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : श्रीवल्लभ विधापीठ श्रीविद्वत्प्रेमप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी
पुणे - बेंगलोर रोड, कोल्हापुर
महाराष्ट्र ४१६ ००८.

संकलनकर्ता: गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : वि.सं.२०७०

प्रति : १०००

निःशुल्कवितरणार्थ : मुंबई विश्वविद्यालयके फिलोसोफी डिपार्टमेंट और
वल्लभवेदांत एकेडेमी अेन्ड रिसर्च सेन्टर के लिए
श्रीवल्लभ विधापीठ श्रीविद्वत्प्रेमप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट,
कोल्हापुर, द्वारा प्रकाशित.

मुद्रक : शैलेश प्रिन्टर्स,
४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट,
कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),
मुंबई : ४०० ०५९.

ग्रन्थपरिचय

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्कलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥

तत्त्वार्थदीपनिबन्धके प्रारम्भमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण अपने अन्य अनेक ग्रन्थोंको लिखनेका संकल्प प्रकट करते हैं. ऐसा अन्य किसी भी ग्रन्थमें उपलब्ध होता न होनेसे यह सहज सम्भव लगता है कि तत्त्वार्थदीपनिबन्ध महाप्रभुविरचित ग्रन्थोंमें आद्य रचना हो. कुछ अन्य विद्वानोंकी धारणा है कि उक्त निबन्ध ग्रन्थमें उपदिष्ट सिद्धान्त एवं साधना मर्यादामार्गीय हैं, जबकि षोडशग्रन्थोंमें उपदिष्ट सिद्धान्त एवं साधना पुष्टिमार्गीय हैं. कुछ अन्य अन्वेषकोंकोने तो यह भी प्रस्तावित किया है कि निबन्धलेखनकालमें महाप्रभुके मनमें स्वतन्त्र पुष्टिसम्प्रदाय प्रवर्तनकी कोई सुस्पष्ट योजना या रूपरेखा नहीं थी.

श्रीयोगिगोपेश्वरजीके (द्रष्ट. : अणुभाष्यप्रकाशरश्मि २।३।५०) एक वचनसे उल्लिखित धारणाओंको पोषण भी मिलता है. रश्मिकारके अनुसार महाप्रभुविरचित साहित्यको अधोनिर्दिष्ट चार वर्गोंमें विभाजित किया जा सकता है :

- (१) आधिभौतिक ग्रन्थ=ब्रह्मसूत्राणुभाष्य
- (२) आध्यात्मिक ग्रन्थ=तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
- (३) आधिदैविक ग्रन्थ=श्रीभागवतसुबोधिनी
- (४) निर्गुण ग्रन्थ=षोडशग्रन्थ

इस वर्गीकरणका आधार, रश्मिकारके अनुसार, इन ग्रन्थोंकी 'इतिश्री'में

महाप्रभुद्वारा अपनाया गया शैलीभेद है यथा : भाष्यमें महाप्रभु स्वयंको 'वेदव्यासमतवर्तिवल्लभाचार्य' तो निबन्धमें 'विष्णुस्वामिमतानुवर्तिवल्लभाचार्य' तो श्रीभागवतसुबोधिनीमें 'श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजवल्लभदीक्षित' तो षोडशग्रन्थमें केवल 'श्रीवल्लभाचार्य' कहते हैं.

इस धारणाके अनुसार, अर्थात् श्रीयोगिगोपेश्वरजीके मतमें, तत्त्वार्थदीपनिबन्धमें महाप्रभुका निजमत नहीं प्रतिपादित हुवा है किन्तु श्रीयज्ञनारायण भट्टसे लेकर श्रीलक्ष्मण भट्ट पर्यन्त श्रीविष्णुस्वरमिसम्प्रदायकी कुलपरम्परागत मान्यताका प्रतिपादन ही हुवा है. अतएव वे तत्त्वार्थदीपनिबन्ध ग्रन्थको महाप्रभुविरचित आध्यात्मिक साहित्यकी कोटिमें रखना चाहते हैं.

रश्मिकारके इस वर्गीकरणके बारेमें अनेक प्रश्न उठते हैं, यथा :

१. उन ग्रन्थोंकी कौन सी कोटि माननी कि जिनमें इन चारोंमें से एक भी तरहकी 'इतिश्री' लिखनेके बजाय महाप्रभुने अन्य ही पांचवीं प्रकारकी 'इतिश्री', उदाहरणतया, "इति श्रीभागवतसारसमुच्चये वैश्वानरोक्तं पुरुषोत्तमनाम्नां सहस्रं सम्पूर्णम्" लिखी है.

२. उन ग्रन्थोंको किस कोटिमें स्वीकारना जिनमें षोडशग्रन्थ जैसा कुछ भी नहीं फिर भी, उदाहरणतया, "इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिताः पूर्वमीमांसाकारिकाः सम्पूर्णाः" ऐसा महाप्रभुने लिखा ही है.

३. तत्त्वार्थदीपनिबन्धके अन्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणकी कारिकाओंकी 'इतिश्री'में हम "श्रीकृष्ण-व्यास-विष्णुस्वामि-मतानुवर्ति-श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते शास्त्रार्थकथनं प्रथमं प्रकरणम्"

शब्दावली हम पाते हैं जबकि इन्हीं कारिकाओंके व्याख्यानरूपेण लिखे गये प्रकाशकी 'इतिश्री'में “इति श्रीतत्त्वदीपनिबन्धटीकायां श्रीवल्लभाचार्यकृतायां प्रथमं प्रकरणम्” शब्दावली मिलती है! यह तो सर्वथा असंभजस ही लगता है कि मूल श्रीविष्णुस्वामिमतानुसारी हो और उसके अभिप्रायको स्फुट करनेको लिखी गयी टीका वाल्लभमतानुसारी हो.

इस विरोधाभासके परिहारका एक उपाय यह सोचा जा सकता है स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको श्रीविष्णुस्वामिमतानुगामी मान कर इस व्यर्थ भेदको समाप्त कर दिया जाय.

इस प्रकारके ऊहमें एक बाधा स्वयं महाप्रभुके “भेदः पारमार्थिकः इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः. तेच साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनः, रामानुजाः च इति तमोरजस्सत्त्वैः भिन्नाः अस्मत्प्रतिपादितः च नैर्गुण्यः. एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः” (सुबो. ३।३२।३७) इस वचनके कारण उभरती है. भेदवादमूलक तामस, राजस तथा सात्त्विक भेदसे भक्तिके तीन प्रकार क्रमशः श्रीविष्णुस्वामी श्रीमध्वाचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित हैं, ऐसा कह कर स्वप्रतिपादित प्रकारको महाप्रभु ‘निर्गुणा भक्ति’ कह रहे हैं. साथ ही साथ इन चारों प्रकारोंको भगवदभिप्रेत भी माना है. इस विधानके विपरीत पुनः महाप्रभुका, न केवल यहीं अपितु अन्यत्र भी उज्जयिनी आदि तीर्थपुरोहितोंको स्वहस्ताक्षरमें दिये गये वृत्तिपत्रोंमें भी, स्वयंको ‘विष्णुस्वामिमतानुवर्ती’ कहना आत्मनिन्दाका प्रकार मानना पड़ेगा!

अतः रासपंचाध्यायीमें अनेकत्र गोपीजनोमेंसे किसी एक गोपिकाके भावको तामस, राजस या सात्त्विक; एवम् अन्य

गोपिकाके भावको निर्गुण दिखलाते समय महाप्रभुका तात्पर्य जैसे निन्दाका नहीं किन्तु भावकी विलक्षण चमत्कृतिके बारेमें होता है - विविधतया प्रशंसा करनेमें होता है - ऐसे ही यहां भी स्वीकारना चाहिये.

निष्कर्षरूपेण यह स्वीकारना ही पड़ता है कि महाप्रभु विष्णुस्वामिसंप्रदायके कुलपरंपरागत अनुवर्ती होनेपर भी (द्रष्ट.सुबो.प्रका.१।१।१) कुछ अधिक और भी प्रकार पुष्टिभक्तिमार्गका कहना चाहते हैं, अपनी मर्यादामार्गीय विष्णुस्वामिमतानुवर्तिताके त्यागके बिना ही. अस्तु.

४.सुबोधिनी आदि ग्रन्थोंमें बहुधा तामस, राजस, सात्त्विक एवम् निर्गुण ऐसे चार वर्गोंका तो उल्लेख मिलता है, परन्तु आधिभौतिक आध्यात्मिक आधिदैविक की तुलनामें चतुर्थवर्गको ‘निर्गुण’ कहना इन तीन वर्गोंको ‘सगुण’ (द्रष्ट.सर्व.नि.१।१९) कहनेमें फलित होता है. और शुद्धाद्वैतवादकी चोखटमें श्रीकृष्णरूप अधिदेवको सगुण या सात्त्विक कहना सिद्धान्तसंगत नहीं होता.

शुद्धसत्त्वप्रधान मायासे कल्पित व्यवहार या प्रतिभास होनेसे अथवा उपासनार्थ-कल्पित होनेसे, केवलाद्वैतवादमें तो सरलतासे श्रीकृष्णरूप अधिदेवको भी सगुणताके स्तरपर पटका जा सकता है. महाप्रभुके मतमें, परन्तु यह सर्वथा असंभव है. एतदर्थ अधोनिर्दिष्ट उद्धरण मननीय होंगे :

(क)“सद् अधिभूतं चिद् अध्यात्मं आनन्दो आधिदैविकः इति... देहो अधिभूतं जीवो अध्यात्मा ईशो अन्तर्यामी अधिदैवः, तत्रैव विद्यमानोऽपि अनभिमानित्वात् ब्रह्मेति एकत्रैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति प्रकारान् गणयति - अन्तर्यामि अक्षरं कृष्णो

ब्रह्मभेदाः...”(त.दी.नि.प्र.२।१.२०-१.२१).

(ख)“यथा जलं तथा सर्वं, यथा शक्ता तथा बृहत्, यथा देवी तथा कृष्णः” (सिद्धा.मुक्ता.९).

(ग)“सएव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो नहि गुणाभिमानिनो ये हि तदंशाः सगुणाः स्मृताः. कर्ता स्वतन्त्रएव स्यात् सगुणत्वे विरुध्यते” (त.दी.नि.१।७७).

वाल्लभ ग्रन्थोंमें सन्दर्भभेद एवम् विवक्षाभेद के वशात् ‘सगुण’ शब्दके दो अर्थ मिलते हैं. प्रथम दिव्यगुणोंके सहित होना और द्वितीय प्राकृतगुणोंसे रहित होना. यही बात ‘निर्गुण’ शब्द पर भी लागू होती है. अतएव ‘निर्गुण’ का एक अर्थ होता है प्राकृतगुणरहित. ऐसी स्थितिमें भागवतमें वर्णित कृष्णलीला या अन्य भी भगवल्लीलाओं को, जब तक प्राकृतगुणयुक्त परमात्माकी लीला न मानी जाये, तब तक उनकी व्याख्यार्थ प्रवृत्त हुई सुबोधिनीको ‘सात्त्विक’ कैसे कहा जा सकता है? प्रतीत होता है कि इसी असमंजसताको दूर करनेके लिये ‘सात्त्विक’ न कह कर ‘आधिदैविक’ कह दिया गया है. परन्तु सुबोधिनीसे षोडशग्रन्थोंका वैलक्षण्य यदि निर्गुणताका हो तो सुबोधिनीको सगुण आधिदैविक हटात् मानना ही पड़ेगा!

५. श्रीविष्णुस्वामिमतके अनुवर्तनसे आध्यात्मिकता तथा श्रीवेदव्यासके अनुवर्तनसे ग्रन्थमें आधिभौतिकता आती हो तो सुस्पष्टतया हम देख सकते हैं कि निबन्धकारिकाकी इतिश्रीमें महाप्रभुने स्वयंको श्रीवेदव्यास और श्रीविष्णुस्वामी दोनोंका ही अनुवर्ती बताया है. अतः यहां आधिभौतिकता

एवम् आध्यात्मिकता का सांकर्य भी मानना पड़ेगा. जहां तक पूर्वपक्षनिराकरण एवम् स्वसिद्धान्तोपदेश के भेदका प्रश्न है तो वह तो भाष्य और निबन्ध दोनोंमें ही उपलब्ध होता है.

इस तरहके अन्यभी अनेक असमाधेय प्रश्न इस वर्गीकरणमें उत्थित होते हैं. अतः श्रीयोगिगोपेश्वरजीके विधानका वास्तविक अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाता है.

इतिश्री-लेखनकी इन विभिन्न शैलियोंके कारण, कौनसे ग्रन्थका लेखनारंभ महाप्रभुकी किस वयोवस्थामें हुआ है, इतना-सा संकेत तो समान्यतया प्राप्त किया जा सकता है. इससे अधिक, किन्तु, अन्य जो बातें यहां खोजी गयी हैं, उनका महाप्रभु-विरचित ग्रन्थोंकी आन्तरिक सुसंगति एवं सर्वग्राही दृष्टिकोण के साथ कोई तालमेल बैठता नहीं है. यह तो साफ-साफ झलकता है तथा प्रमाणित भी है कि निबन्धकारिकाओंका लेखनारंभ सुबोधिनी तथा अनेक षोडशग्रन्थों के लेखनसे पूर्व हुआ है. इसी तरह निबन्धप्रकाशका लेखन यदि सुबोधिनी आदिके बादमें न भी सही तो कमसे कम साथ-साथ तो हुआ होना ही चाहिये.

ऐसी स्थितिमें महाप्रभुके दृष्टिकोणमें वयोवस्थाके साथ परिवर्तन हुआ, अर्थात् पहले आप केवल मर्यादामार्गीय उपदेश ही देते थे और बादमें पुष्टिमार्गीय; अथवा एक किसी ग्रन्थमें आपने केवल मर्यादामार्गीय सिद्धान्त एवं साधना तथा अन्य ग्रन्थमें पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त एवं साधना का उपदेश दिया है, ऐसा सिद्धान्तभेद खोजना महाप्रभुके व्यापक शुद्धाद्वैतवादका आंशिक प्रत्याख्यान ही है.

ऐसे कृत्रिम किसी भी विभाजनके बजाय अतएव महाप्रभुविरचित साहित्यका एक सहज वर्गीकरण हम यों देना चाहेंगे :

महाप्रभुविरचितसाहित्य

(१) तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (२) भाष्य (३) भागवतव्याख्या (४) प्रकरणग्रंथ (५) प्रकीर्णग्रंथ

(१) तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

शास्त्रार्थप्रकरण सर्वनिर्णयप्रकरण भागवतार्थप्रकरण

(२) भाष्य

पूर्वमीमांसाभाष्य ब्रह्मसूत्रभाष्य गायत्रीभाष्य
(क) कारिकात्मक एवम् (क) कारिकात्मक एवम्
(ख) गद्यात्मक (ख) गद्यात्मक

(३) भागवतव्याख्या

सूक्ष्मटीका सुबोधिनी

(४) प्रकरणग्रन्थ

षोडशग्रन्थ यमुनाष्टकादि शिक्षाश्लोकी तथा पंचश्लोकी

(५) प्रकीर्ण

भक्त्यंग वादांग
पत्रावलंबन
(क) नामपाठार्थ पुरुषोत्तमसहस्रनाम त्रिविधनामावली कृष्णप्रेमामृत
(ख) रूपवर्णनार्थ स्तुत्यर्थ परिवृढाष्टक, मधुराष्टक नन्दकुमाराष्टक, गिरिराजधार्याष्टक श्रीकृष्णाष्टक, गोपीजनवल्लभाष्टक
(ग) लीलाचिन्तनार्थ दशमस्कन्धानुक्रमणिका

(क) पुरुषोत्तमसहस्रनाम त्रिविधनामावली तथा कृष्णप्रेमामृत (!)

(ख) परिवृढाष्टक मधुराष्टक गिरिराजधार्यष्टक श्रीकृष्णाष्टक गोपीजनवल्लभाष्टक आदि.

(ग) दशमस्कन्धानुक्रमणिका.

इनके अलावा सुदर्शनकवच तथा भगवत्पीठिका ग्रन्थ भी माने जाते हैं. परन्तु उनका महाप्रभुविरचित होना न तो सिद्धान्तसंगत लगता है और न वे सर्वमान्य ही हैं.

ग्रन्थोंके पूर्वोक्त विभाजनका आधार स्थूलरूपसे “आचार्यवाचः प्रणमामि भाष्य-निबन्ध-सुबोधिनीस्था इतराश्च यास्ता” यह गोस्वामिश्री पुरुषोत्तमजीकी उक्ति है.

इस तरह महाप्रभुविरचित ग्रन्थोंकी तालिकाके बाद अब इन सभी ग्रन्थोंमें क्या-कैसी एकवाक्यता है, यह दिखलानेका हम प्रयास करना चाहेंगे.

स्वयं महाप्रभु तथा उनके आत्मज गो.श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरण की “साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्तिः उत्तमा तथा सर्वत्र सम्मोहः साक्षाद् भक्तिः च मोचिका” (सुबो. १।७।४) और तन्मूलक “साकारब्रह्मवाद-कस्थापको” (सर्वो.स्तो. ८) इन दोनों उक्तिओंके आधारपर महाप्रभुके मतका अभीष्टतम तथा प्राथमिक अभिधान ‘शुद्धब्रह्मवाद’ ‘शुद्धब्रह्माद्वैतवाद’ अथवा ‘शुद्धाद्वैतवाद’ के बजाय ‘साकार-ब्रह्मवाद’ (Pan-entheism/ Pantheistic personalism) ही हम मान कर चलते हैं. उत्तरकालमें प्रचलित हुवा अभिधान ‘शुद्धाद्वैतवाद’, क्योंकि संभव है कि स्वयम् महाप्रभुद्वारा निर्धारित अभिधान न भी हो. ‘साकारब्रह्मवाद’ शब्दमें ‘साकार’ विशेषण

है, जिसका अभिप्राय अमायिक-अप्राकृत दिव्य आनन्दमय आकारवाले श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमात्मा भगवान् हैं, इस अर्थमें हैं। 'ब्रह्म' विशेष्य है, जिसका अभिप्राय है, इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण आत्मरमणशील केवल ब्रह्म ही है। अन्य माया प्रकृति परमाणु काल कर्म स्वभाव आदि कोई भी पदार्थ ब्रह्मभिन्नतया जगत्की उत्पत्ति स्थिति या लय में निमित्तकारण उपादानकारण अथवा प्रयोजन बन नहीं सकते।

महाप्रभु कहते हैं:

अखण्डं कृष्णवत् सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्
आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रीयते हरतीश्वरः।
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा॥
इति श्रुत्यर्थम् आदाय साध्यं सर्वैः यथामतिः।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्॥

(त.दी.नि. २।१२२-१२४)

इस साकारब्रह्मवादके कारण महाप्रभुका कृष्णभक्तिपर सर्वाधिक उपदेशभार है। इस साकारब्रह्मवादपर अवलम्बित होनेके कारण ही महाप्रभुके मतमें पुष्टिभक्तिमें कभी माहात्म्यज्ञान अनिवार्य है तो कभी नहीं भी। सुबोधिनी (१०।२६।१३) में यह आता है कि भगवत्प्राकट्य ज्ञान और/अथवा भक्ति के चरम विकास होनेपर जैसे होता है, वैसे ही कभी स्वेच्छया भी भगवान् प्रकट हो जाते हैं। जब स्वेच्छया भगवान् प्रकट हो जाते हैं, तब भगवत्प्राकट्यके हेतुभूत ज्ञान या भक्ति रूप उपाय अकिंचितकर हो जाते हैं। वर्षा ऋतुमें, परन्तु, घरकी छतपर जल बरसता रहता है एतावता कूप नदी या सरोवर

को अनुपयोगी नहीं माना जा सकता! इसी तरह स्वेच्छया प्राकट्यके अलावा ज्ञान-भक्तिकी भी अनुपयोगिता मानी नहीं जा सकती है।

इसके अलावा शास्त्रार्थप्रकरण (प्रकाश. ४।४२) में महाप्रभुने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि भक्तिके दो अंश हैं प्रथम माहात्म्यज्ञान तथा द्वितीय सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह। देवादिविषयिणी रतिको 'भाव' कहा जाता है। देवत्व माहात्म्य है और रति प्रकट होती है, उस देवको जब हम अपनी आत्माके रूपमें जाने या मानने लग जायें तब, अतएव शास्त्रोंमें जगत्कर्ता जगदाधार अन्तर्यामी फलदाता आदि जो भी ब्रह्मके माहात्म्य दिखलाये गये हैं, उनका अन्तिम प्रयोजन माहात्म्यज्ञापनद्वारा हम जीवात्माओंमें परमात्माके प्रति सुदृढ स्नेहको उद्बुद्ध करना ही है। वेदके पूर्वकाण्डमें वर्णित कर्ममार्गका भी मुख्य प्रयोजन चित्तशुद्धिद्वारा माहात्म्यज्ञानप्राकट्य ही है। इस तरह कर्मसे ज्ञान और ज्ञानसे भक्तिके प्राकट्यक्रममें पूर्वोत्तरकाण्डकी ही नहीं अपितु अन्यभी अनेक शास्त्रोंकी एकवाक्यता प्राप्त हो जाती है। यह मुख्य कल्प है।

अधिकारभेदवश, परन्तु, इसमें अनेक विकल्प एवं अनुकल्प भी संभव हैं। तदनुसार मार्गभेद साधनभेद एवं फलभेद भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें वर्णित हुये हैं।

यह तथ्य है कि पुष्टिमार्ग-संप्रदायके आचार्यके रूपमें महाप्रभु अन्यान्य मार्गोंके अनुष्ठानोंका उपदेश देकर अपने अनुयाईयोंको साधनाबाहुल्यमें दिग्भ्रान्त नहीं करना चाहते। अतएव स्पष्ट शब्दोंमें भक्तिकी तुलनामें अन्य सभी साधनोंको गौण ही मानते हैं। फिरभी जबतक देहाभिमान बना रहता है, तब तक उन-उन अभिमानोंको लक्ष्यमें रख कर वेदादि

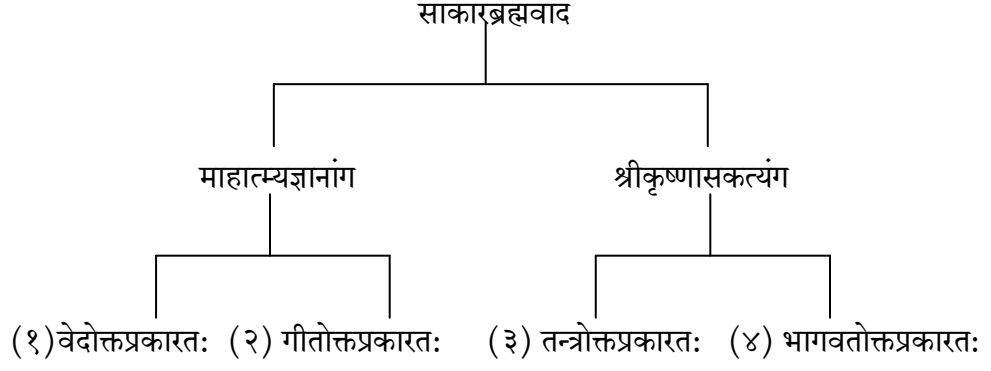
शास्त्रोंद्वारा अनिवार्यतया विहित किसी भी धर्म (चाहे वह कर्म ज्ञान भक्ति प्रपत्ति रूप हो अथवा वर्णाश्रमोंके प्रभेदमूलक आचार वृत्ति व्रत प्रायश्चित्त आदि रूपी हो) के त्यागकी छूट भी नहीं देते. एतदर्थ अधोनिर्दिष्ट वचन मननीय होगा :

“जब तक यह देह (या देहाभिमान) है तब तक वर्णाश्रमधर्म ही हमारे लिये स्वधर्म है. भगवद्धर्म भी तब या तो हमारे लिये विधर्मरूप है या परधर्मरूप है. जब देहाभिमान शिथिल होने लगे तब भगवद्दास्य ही हमारेलिये स्वधर्मकी कोटीमें आ जायेगा और अन्य सभी वर्णाश्रमादि धर्म भी तब हमारे लिये परधर्म बन जायेंगे”.

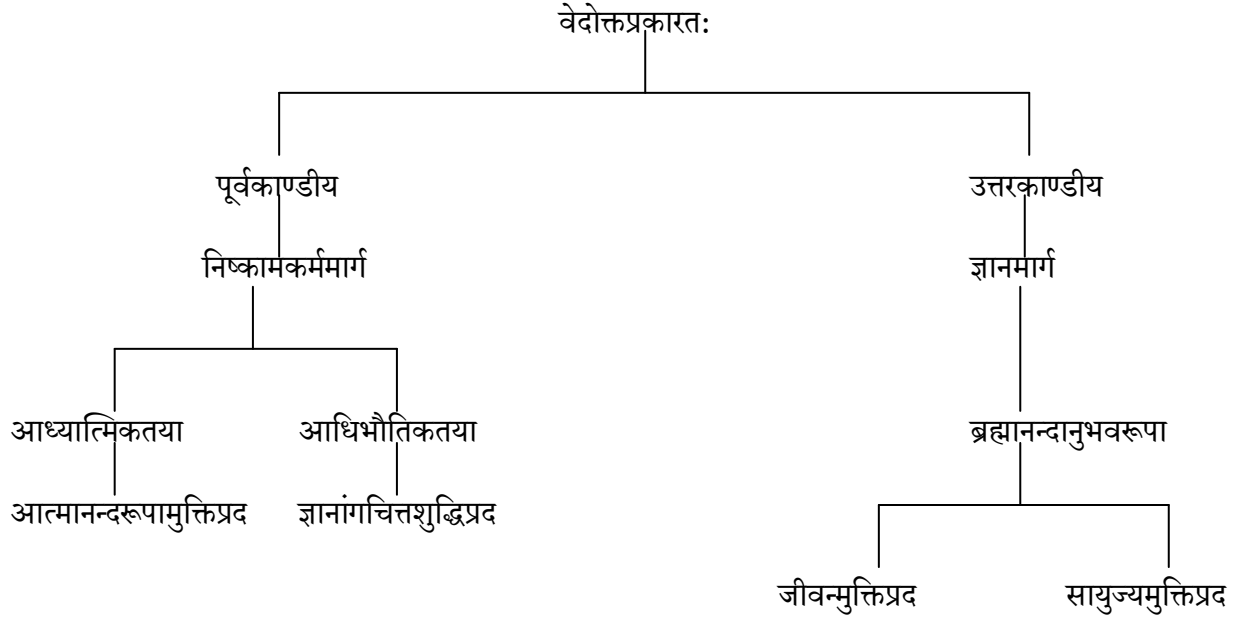
(सुबो.३।२८।२).

साथ ही साथ महाप्रभुका यह भी कहना है कि वर्णाश्रमादिधर्म तत्तद् अधिकारियोंके लिये ही हैं, जबकी भक्ति-प्रपत्ति सर्वाधिकारक धर्म है. वर्तमान कलियुगके कारण स्वाध्याय शौच तप आदिसे रहित साधकोंकी अनेकविध आध्यात्मिक दुरवस्थाओंको देखते हुवे सिद्धान्ततः सर्वथा मान्य होनेपर भी वर्णाश्रमाचारादि धर्मोंके यथाविधि अनुष्ठानको महाप्रभु अशक्यप्रायः मानते हैं. अतः व्यवहारमें भक्ति-प्रपत्तिको ही एकमात्र अवशिष्ट विकल्प मानते हैं (द्रष्ट. : त.दी.नि.१।१५-२१, २।१८५-२१९).

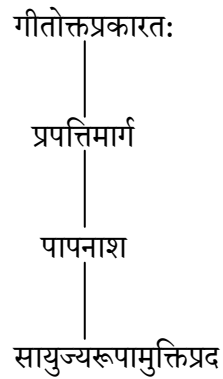
इस सारी बातोंको लक्ष्यमें रखकर यदि महाप्रभुके सैद्धान्तिक चिन्तनपर आधारित साधनोपदेशकी तालिका बनाना चाहें तो वह कुछ ऐसी होगी :



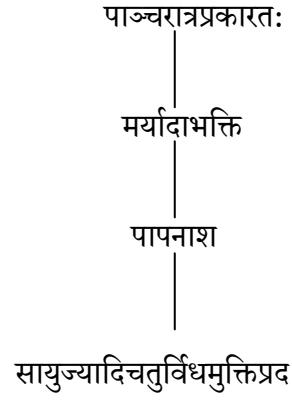
(१) द्विजाधिकारक



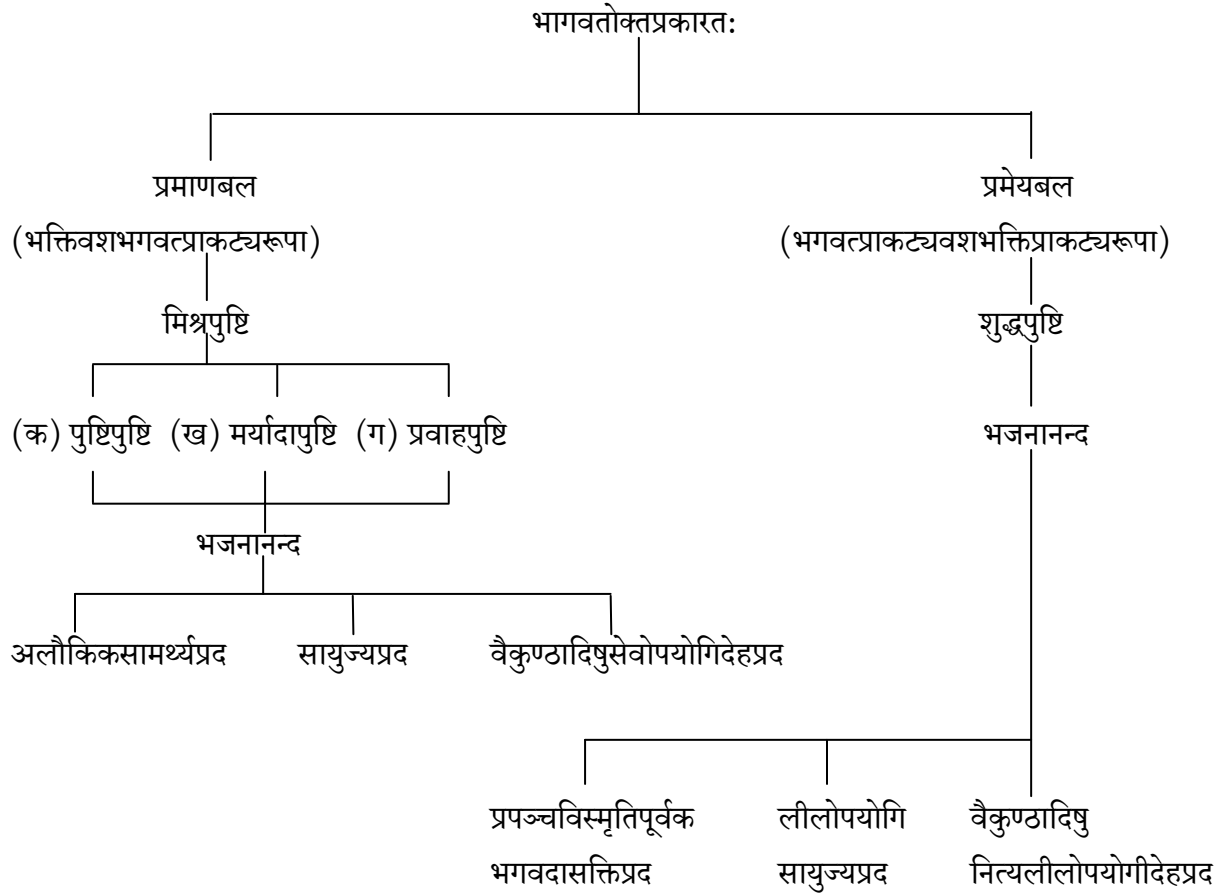
(२) सर्वाधिकारक



(३)चतुर्वर्णाधिकारक



(४)सर्वाधिकारक



मिश्रपुष्टिके त्रिविध प्रकारोंका ही वर्णन यहां शास्त्रार्थप्रकरणके उपसंहारमें तथा पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमें समझाया गया है। उसकी परस्पर संवादिता एकवाक्यताका मनन करनेके लिये वहांसे कुछ वचन हम उद्धृत करना चाहेंगे :

(क) पुष्टिपुष्टि

एवं 'सर्वं ततः' - 'सर्वं स' इति ज्ञानयोगतः ।

यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिः उत्तमः ॥

(त.दी.नि.१०१)

ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदाद् मिश्राः त्रिधा पुनः ।

प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ।

पुष्ट्या विमिश्रा सर्वज्ञाः.....

(पु.प्र.म.१४-१५)

(ख) मर्यादापुष्टि

शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः

प्रेमाभावे मध्यमः स्यात्.....

(त.दी.नि.प्र.१।१०२)

मर्यादया गुणज्ञास्ते.....

(पु.प्र.म.१६)

(ग) प्रवाहपुष्टि

उभयोः अभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं

धर्मत्वं वा नतु भक्तिमार्गः ।

तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य भविष्यति योगयोगे तथा प्रेम...

(त.दी.नि.प्र.१।१०२-१०३)

प्रवाहेण क्रियारताः.....

(पु.प्र.म.१५)

महाप्रभुके सभी ग्रन्थोंमें यही साकारब्रह्मवाद स्वयम् ब्रह्मकी तरह ही व्याप्त है. कहीं समास-शैलीमें तो कहीं व्यासशैलीमें, कहीं शब्दशः तो कहीं तात्पर्यशः और कहीं प्रतिपाद्य-विषयत्वेन तो कहीं अन्यत्र प्रतिपादित विषयके निष्कर्षत्वेन. सर्वत्र यही साकारब्रह्मवाद निरूपित हुआ है. इसमें कहीं कोई विसंगति या सैद्धान्तिक भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती.

महाप्रभुके विभिन्न ग्रन्थोंमें तथाकथित पुष्टिमार्गीय एवं मर्यादामार्गीय उपदेशोंका प्रभेद खोजना कितना मनगढ़ंत है, यह जानना हो तो अधोलिखित वचन सर्वथा मननीय है :

“भक्तेरपि स्वाश्रयधर्मसहित-ज्ञानसहितायाएव तिरोधाननाश-
कत्वम् उक्तं भवति. एषा भक्तिः माहात्म्यज्ञानपूर्वक-परमस्नेहरूपा
तथाभूता सती भगवत्परिचर्यायुक्ता भवेत्, स्वतःपुरुषार्थरूपा
सेवा चेत् सा भक्तिः ‘स्वतन्त्रा’ इति उच्यते. स्वाश्रमाचारसहित-
ब्रह्मानुभवसहित-माहात्म्यज्ञानपूर्वक-स्नेहो ब्रह्मभावं करोति. तादृशः
चेत् परिचर्यासहितो भवेत् तदा सा परिचर्या आनन्दरूपा सती
त्रयोदशगुणा भवेत्. तदा फलरूपायां तस्यां स्वाश्रमाचारादिकरणं
फलानुभवप्रतिबन्धकमिति फलत्वेन अनुभवे स्वाश्रमाचाराः
त्यक्तव्याः, यथा ब्रह्मभावांगतस्य, अन्यथा कर्तव्या इति निष्कर्षः.
एवं फलप्रकरणे तां सामान्यतो निरूप्य विशेषतो निरूपणाभावे
हेतुम् आह दुर्लभा इति न सा उच्यते इति. सन्ति ब्रह्मभावांप्राप्ताः,
नतु एतादृशाः भक्ताः इति”.

(त.दी.नि.प्र.२।१९६).

जिसे ‘शुद्धपुष्टिभक्त’ कहा जाता है और जिसे ‘पुष्टिपुष्टिभक्त’ कहा जाता है वे दोनों अपनी प्रारंभिक अवस्थाओंकी दृष्टिसे भिन्न होनेपर भी फलितावस्थामें पुष्टिपुष्टिभक्ति शुद्धपुष्टिभक्तिरूपा ही बन जाती है. अतः दोनों ही “शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभा” हैं.

प्रारंभिक साधनदशामें यथाधिकार शास्त्रतः प्राप्त एवं विहित कृत्योंकी पुष्टिमार्गमें भी अपरिहार्यता है ही मर्यादामार्गकी तरह. फलानुभवदशामें तो न केवल पुष्टिमार्गमें ही अपितु मर्यादामार्गमें भी विधिबन्धन शिथिल होते-होते स्वतः तूट जाते हैं.

हां इतना तो निश्चित ही है कि पुष्टिमार्गमें सेवा मुख्य है पूजा नहीं. अतः केवल मन्त्रयुक्त पूजामें तत्पर होनेसे काम नहीं चलेगा (त.दी.नि.२।२३७). कौन नहीं जानता कि सर्वथा पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें भी धूप दीप आरातिक घंटानाद शंखनाद पंचामृतस्नान ज्येष्ठाभिषेक रथ-दोला-पवित्रा-रक्षादिका अधिवासन श्रौताचमन प्राणायाम देशकालसंकीर्तन-पूर्वक संकल्प आदि अनेक समन्वय पूजाविधियां समाविष्ट हैं ही. मुख्य तो सेवा ही है. वर्णाश्रमाचारादि तथा शास्त्रविहितोपचारादि सभी कृत्य सेवाके अंगत्वेन अनुष्ठेय है, अंगत्वेन नहीं. वेदके पूर्वोत्तरकाण्डमें वर्णित कर्ममार्ग भी भक्तिके अंगत्वेन उपादेय है, स्वातन्त्र्येण नहीं. अन्यथा कर्ममार्ग या ज्ञानमार्ग अन्याश्रयरूप दोष कहे जायेंगे. यह अंगभाव भी शास्त्रतः तत्तद् वर्ण या आश्रम में स्थित अधिकारियोंकी कृष्णभक्तिके लिये ही है. अन्यथा वर्णाश्रमबाह्य अधिकारियोंद्वारा की जाती कृष्णसेवामें शास्त्रविहित वर्णाश्रमाचारादिको अपरिहार्य अंग नहीं माना गया है, अप्राप्त होने से. वर्णाश्रमके भेदभाव बिना श्रीकृष्णकी प्रपत्ति और/अथवा भक्ति का अधिकार तो मनुष्यमात्रको है ही (द्रष्ट. : त.दी.नि.प्र.२।१८५-२२६).

मायावादियोंको अभिप्रेत शाब्दापरोक्षज्ञानवाद महाप्रभुको सर्वथा अप्रामाणिक (द्र.त.दी.नि.१।६१-६४) लगता होनेसे कोई भी पुष्टिमार्गानुयायी यह नहीं कह सकता कि संप्रदायकी आत्मसमर्पण-दीक्षामें देहाध्यास-निवर्तक उपदेश प्राप्त हो जानसे केवल दीक्षागत शब्दोंसे ही देहाध्यास निवृत्त हो जायेगा. अन्यथा दीक्षा लेनेके बाद सेवा-स्मरण आदि रूप भक्तिमार्गीय उपाय भी निरर्थक ही ठहरेंगे!

अतः महाप्रभुकी वयोवस्थाके भेदवश अथवा विभिन्नाधिकारक ग्रन्थोंके भेदवश ही महाप्रभुके शुद्धाद्वैतवादी दृष्टिकोणमें विहित-अविहितके बीच किसी भी तरहके आत्यन्तिक द्वैतको खड़े करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है.

एतावता यह सिद्ध होता है कि तत्त्वार्थदीपनिबन्ध भी महाप्रभुके पुष्टिमार्गीय अनुयाईयोंके लिये ही लिखा गया ग्रन्थ है!

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।५) में आत्मदर्शनके उपायरूप श्रवण मनन और निदिध्यासन का विधान किया गया है. तदनुसार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके दर्शनकी आत्माका साक्षात्कार करना हो तो हम भी यह निःसंकोच कह सकते हैं कि तत्त्वार्थदीप निबन्धका श्रवण-मनन-निदिध्यासन अत्यावश्यक उपाय हैं.

अनधिकारी अध्येता जब, इस प्रकरणत्रयीके भलीभांति अध्ययन किये बिना, सीधी छलांग सुबोधिनीपर लगाते हैं तो वाल्लभ सिद्धान्तका ज्ञान उनका विकलांग ही होता है. अस्तु.



शास्त्रार्थप्रकरणकी विषयानुक्रमणिका

श्लोक	विषय	पृष्ठ
	स्वमतीय प्रमाण साधन और फल के स्वरूपोंका प्रतिपादन	
६.	अवतरणिका...	१
	कारिका...	१
	भावानुवाद...	१
	प्रकाश...	१
	अनुवाद...	१
	स्वमतकी साधिका प्रमाणव्यवस्था	
	स्वसिद्धान्तके उपदेशकालमें अभिप्रेत प्रमाणव्यवस्था	
७.	अवतरणिका...	२
	कारिका...	२
	भावानुवाद...	२
	प्रकाश...	२
	अनुवाद...	३
८.	अवतरणिका...	४
	कारिका...	४
	भावानुवाद...	४
	प्रकाश...	४
	अनुवाद...	५
	स्वसिद्धान्तके भलीभांति बुद्धिगत हो जानेके बाद	
	अभिप्रेत प्रमाणव्यवस्था	
९.	अवतरणिका...	६
	कारिका...	६

	भावानुवाद...	६
	प्रकाश...	६
	अनुवाद...	७
	इस प्रतिपादनमें उभरती शंकाओंका समाधान	
१०.	अवतरणिका...	७
	कारिका...	८
	भावानुवाद...	८
	प्रकाश...	८
	अनुवाद...	८
११.	अवतरणिका...	९
	कारिका...	९
	भावानुवाद...	९
	प्रकाश...	१०
	अनुवाद...	१०
१२.	अवतरणिका...	११
	कारिका...	११
	भावानुवाद...	११
	प्रकाश...	११
	अनुवाद...	१२
	स्वमतके अनुसार प्रमेयस्वरूपका प्रतिपादन	
	प्रमेयके अन्तर्गत जडजीवात्मक जगत्के स्वरूपका प्रतिपादन	
१३.	अवतरणिका...	१२
	कारिका...	१२
	भावानुवाद...	१२
	प्रकाश...	१३
	अनुवाद...	१५

भगवान्की मायाके स्वरूपका प्रतिपादन	
२६. अवतरणिका...	१८
कारिका...	१८
भावानुवाद...	१९
प्रकाश...	१९
अनुवाद...	१९
जीवके स्वरूपका प्रतिपादन	
२७. अवतरणिका...	२०
कारिका...	२०
भावानुवाद...	२०
प्रकाश...	२०
अनुवाद...	२०
सदंशरूप जड़के स्वरूपका प्रतिपादन	
२८. कारिका...	२१
भावानुवाद...	२१
प्रकाश...	२१
अनुवाद...	२१
आनन्दंशरूप अन्तर्यामीके स्वरूपका प्रतिपादन	
२९. कारिका...	२१
भावानुवाद...	२१
प्रकाश...	२२
अनुवाद...	२२
उक्त त्रैविध्यके प्राकट्यका प्रकार :	
२९. अवतरणिका...	२२
कारिका...	२२
भावानुवाद...	२२

प्रकाश...	२३
अनुवाद...	२३
३०. अवतरणिका...	२३
कारिका...	२३
भावानुवाद...	२३
प्रकाश...	२३
अनुवाद...	२३
सृष्टिमें चिदंशरूप जीवात्माके साथ संसारोत्पत्तिका प्रकार	
३१. अवतरणिका...	२४
कारिका...	२४
भावानुवाद...	२४
प्रकाश...	२४
अनुवाद...	२५
३२. अवतरणिका...	२५
कारिका...	२५
भावानुवाद...	२६
प्रकाश...	२६
अनुवाद...	२६
चिदंशरूप जीवात्माकी संसारनिवृत्तिका प्रकार	
३३. अवतरणिका...	२८
कारिका...	२६
भावानुवाद...	२७
प्रकाश...	२७
अनुवाद...	२७
६१. अवतरणिका...	२८
कारिका...	२८

भावानुवाद...	२८
प्रकाश...	२८
अनुवाद...	२९
६२. अवतरणिका...	३०
कारिका...	३१
भावानुवाद...	३१
प्रकाश...	३१
अनुवाद...	३१
६३. अवतरणिका...	३२
कारिका...	३२
भावानुवाद...	३२
प्रकाश...	३३
अनुवाद...	३३
६४. अवतरणिका...	३३
कारिका...	३३
भावानुवाद...	३४
प्रकाश...	३४
अनुवाद...	३४
ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन	
६५. अवतरणिका...	३५
कारिका...	३५
भावानुवाद...	३५
प्रकाश...	३५
अनुवाद...	३६
६६. अवतरणिका...	३६
कारिका...	३७

भावानुवाद...	३७
प्रकाश...	३७
अनुवाद...	३७
६६. अवतरणिका...	३७
कारिका...	३७
भावानुवाद...	३८
प्रकाश...	३८
अनुवाद...	३८
६७. अवतरणिका...	३८
कारिका...	३८
भावानुवाद...	३८
प्रकाश...	३९
अनुवाद...	३९
६८. अवतरणिका...	३९
कारिका...	३९
भावानुवाद...	३९
प्रकाश...	४०
अनुवाद...	४०
६९. अवतरणिका...	४०
कारिका...	४१
भावानुवाद...	४१
प्रकाश...	४१
अनुवाद...	४१
७०. अवतरणिका...	४१
कारिका...	४१
भावानुवाद...	४२

प्रकाश...	४२
अनुवाद...	४२
७१. अवतरणिका...	४४
कारिका...	४४
भावानुवाद...	४४
प्रकाश...	४४
अनुवाद...	४४
७२. अवतरणिका...	४५
कारिका...	४५
भावानुवाद...	४५
प्रकाश...	४६
अनुवाद...	४६
९१. अवतरणिका...	४७
कारिका...	४७
भावानुवाद...	४७
प्रकाश...	४७
अनुवाद...	४८
९२. अवतरणिका...	४९
कारिका...	४९
भावानुवाद...	४९
प्रकाश...	४९
अनुवाद...	४९
९३. अवतरणिका...	५०
कारिका...	५०
भावानुवाद...	५०
प्रकाश...	५०

अनुवाद...	५१
स्वमतके अनुसार साधन और फल की व्यवस्था	
१०१. अवतरणिका...	५१
कारिका...	५१
भावानुवाद...	५१
प्रकाश...	५२
अनुवाद...	५२
१०३. कारिका...	५३
भावानुवाद...	५३
प्रकाश...	५३
अनुवाद...	५३
शास्त्रार्थ प्रकरणका उपसंहार	
१०४. अवतरणिका...	५४
कारिका...	५४
भावानुवाद...	५४
प्रकाश...	५४
अनुवाद...	५५



सर्वनिर्णयकी विषयानुक्रमणिका

श्लोक	विषय	पृष्ठ
	शास्त्रार्थप्रकरणोक्त प्रमेयोंका विवेचन	
८४.	अवतरणिका...	५६
	कारिका...	५६
	भावानुवाद...	५६
	प्रकाश...	५६
	अनुवाद...	५६
	एकमेव अद्वितीय प्रमेयका बोध भलीभांति हो पाये	
	तदर्थ उसकी त्रिविधताका उपपादन	
८५.	अवतरणिका...	५७
	कारिका...	५७
	भावानुवाद...	५७
	प्रकाश...	५७
	अनुवाद...	५७
	प्रमेयकी प्राथमिक कारणकोटि	
८६.	अवतरणिका...	५८
	कारिका...	५८
	भावानुवाद...	५८
	प्रकाश...	५८
	अनुवाद...	५८
८७.	कारिका...	५८
	भावानुवाद...	५८
	प्रकाश...	५९

अनुवाद...	५९
कार्यरूप द्वितीयकोटिमें आनेवाले असंख्य होनेके कारण	
उन प्रमेयोंकी गणना शक्य नहीं :	
८८. कारिका...	५९
भावानुवाद...	५९
प्रकाश...	५९
अनुवाद...	६०
प्रमेयकी तीसरी कोटि स्वरूपकोटि :	
८९. अवतरणिका...	६०
कारिका...	६०
भावानुवाद...	६०
प्रकाश...	६०
अनुवाद...	६१
कारणकोटिके अन्तर्भूत तत्त्वोंका उद्देशभावेन पुनः निरूपण :	
९४-९५.	
अवतरणिका...	६१
कारिका...	६१
भावानुवाद...	६१
प्रकाश...	६२
अनुवाद...	६२
९६. अवतरणिका...	६२
कारिका...	६२
भावानुवाद...	६२
प्रकाश...	६३
अनुवाद...	६३
९७. अवतरणिका...	६३

कारिका...	६३
भावानुवाद...	६३
प्रकाश...	६३
अनुवाद...	६४
काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष के रूपभेदवश अनेकविध भगवान्‌के स्वरूपके निरूपणमें अक्षररूपका उपपादन :	
९८. अवतरणिका...	६४
कारिका...	६४
भावानुवाद...	६४
प्रकाश...	६४
अनुवाद...	६४
९९. अवतरणिका...	६५
कारिका...	६५
भावानुवाद...	६५
प्रकाश...	६५
अनुवाद...	६५
१००. अवतरणिका...	६६
कारिका...	६६
भावानुवाद...	६६
प्रकाश...	६६
अनुवाद...	६६
१०१. अवतरणिका...	६७
कारिका...	६७
भावानुवाद...	६७
प्रकाश...	६७

अनुवाद...	६८
१०२. अवतरणिका...	६८
कारिका...	६८
भावानुवाद...	६८
प्रकाश...	६८
अनुवाद...	६९
अक्षरब्रह्मके एक अन्य रूप कालका निरूपण :	
१०४-१०७.	
अवतरणिका...	७०
कारिका...	७०
भावानुवाद...	७०
प्रकाश...	७१
अनुवाद...	७१
अक्षरब्रह्मके रूपान्तर कर्मका निरूपण :	
११०-११२	
अवतरणिका...	७३
कारिका...	७३
भावानुवाद...	७३
प्रकाश...	७४
अनुवाद...	७४
अक्षरब्रह्मके रूपान्तर ऐसे स्वभावका निरूपण :	
११३-११६.	
अवतरणिका...	७५
कारिका...	७५
भावानुवाद...	७६
प्रकाश...	७६

अनुवाद...	७७
कार्योके अवान्तरगणोंका प्रभेद व्यष्टि और समष्टि के उपभेदोंमें :	
११८.अवतरणिका...	७९
कारिका...	७९
भावानुवाद...	७९
प्रकाश...	७९
अनुवाद...	७९
कार्यकोटिमें सात्त्विकादिकी त्रयी आधिदैविकादिकी त्रयी ये प्रभेद भी सोचे जा सकते हैं :	
११९.अवतरणिका...	८०
कारिका...	८०
भावानुवाद...	८०
प्रकाश...	८०
अनुवाद...	८०
१२०.अवतरणिका...	८१
कारिका...	८१
भावानुवाद...	८१
प्रकाश...	८१
अनुवाद...	८१
मूल ब्रह्म तत्त्वके ही अन्तर्यामी अक्षरब्रह्म और श्रीकृष्ण ये तीन रूपभेद होते हैं. इसी तरह इनके उपभेदोंका भी निरूपण :	
१२१.अवतरणिका...	८२
कारिका...	८२
भावानुवाद...	८२

प्रकाश...	८२
अनुवाद...	८३
जीवात्मा अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तम की विभिन्न शक्तिओंके प्रभेदोंका निरूपण:	
१२२.अवतरणिका...	८३
कारिका...	८३
भावानुवाद...	८३
प्रकाश...	८३
अनुवाद...	८४
उस महत् तत्त्वकी रूपान्तरभूत बुद्धिका निरूपण :	
१३७.कारिका...	८४
भावानुवाद...	८४
प्रकाश...	८५
अनुवाद...	८५
सुख दुःख लज्जा काम आदिके उत्पत्ति और स्वरूपका प्रतिपादन :	
१३८.अवतरणिका...	८५
कारिका...	८५
भावानुवाद...	८६
प्रकाश...	८६
अनुवाद...	८६
१३९.अवतरणिका...	८६
कारिका...	८७
भावानुवाद...	८७
प्रकाश...	८७
अनुवाद...	८७
ब्रह्मकी स्वरूपकोटि हो या कार्य या कारणों की कोटि,	

तत्त्वदृष्टिसे वैसे तो सभी नित्य होनेपर भी सृष्टिमें अपना	
आविर्भाव-तिरोभाव दरसानेवाली शक्तिओंके कारण किन्हीं	
नाम-रूप-कर्मोंका उद्भव या अनुद्भव भी सिद्ध होता है :	
१४०. अवतरणिका...	८८
कारिका...	८८
भावानुवाद...	८८
प्रकाश...	८८
अनुवाद...	८९
१४१-१४२	
अवतरणिका...	९१
कारिका...	९१
भावानुवाद...	९२
प्रकाश...	९२
अनुवाद...	९३
कार्यकोटिमें छ भावविकार रूपी वृद्धि आदिकी	
प्रक्रियाका स्वरूप प्रतिपादन :	
१४३-१४५.	
अवतरणिका...	९४
कारिका...	९४
भावानुवाद...	९४
प्रकाश...	९५
अनुवाद...	९५
स्वमतीय प्रमेयके प्रतिपादनका उपसंहार :	
१४६. अवतरणिका...	९५
कारिका...	९६
भावानुवाद...	९६

प्रकाश...	९६
अनुवाद...	९६
वेदादि शास्त्रोंमें प्रतिपादित उक्तविध प्रमेयके स्वरूपके बारेमें	
प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके कारण भासित होते विरोधोंके	
परिहारका प्रकार :	
१४७. अवतरणिका...	९६
कारिका...	९६
भावानुवाद...	९७
प्रकाश...	९७
अनुवाद...	९७
१४८-१४९	
अवतरणिका...	९८
कारिका...	९८
भावानुवाद...	९८
प्रकाश...	९९
अनुवाद...	९९
स्वमतीय प्रमेयके प्रतिपादनके बाद साधन-फलके	
प्रतिपादनोपयोगी मार्गस्वरूपका प्रतिपादन :	
२२०-२२१	
अवतरणिका...	१००
कारिका...	१००
भावानुवाद...	१००
प्रकाश...	१००
अनुवाद...	१०१
प्रमाण प्रमेय साधन या फल मेंसे कुछ भी इस मार्गमें	
वेद आदि शास्त्रोंसे विरुद्ध नहीं ऐसी प्रतिज्ञाके साथ कं	
मार्गीय साधनाका प्रतिपादन :	

२२५-२३७

अवतरणिका...	१०२
कारिका...	१०२
भावानुवाद...	१०३
प्रकाश...	१०४
अनुवाद...	१०५

२४६-२४७

अवतरणिका...	१०८
कारिका...	१०८
भावानुवाद...	१०८
प्रकाश...	१०९
अनुवाद...	१०९

२५३-२५४

अवतरणिका...	११०
कारिका...	११०
भावानुवाद...	११०
प्रकाश...	१११
अनुवाद...	१११



विवेकधैर्याश्रयकी विषयानुक्रमणिका : (शरणागतिका उपदेश)

श्लोक	विषय	पृष्ठ
ग्रन्थपरिचय...		११२-१२५
दीपिकामंगलाचरण (औपक्रमिक मंगलाचरण)...		१२६
१. अवतरणिका...		१२६
कारिका...		१२६
(विवेक धैर्य और आश्रय का उद्देशकथन)		
भावानुवाद...		१२७
दीपिका...		१२७
अनुवाद...		१२७
अवतरणिका...		१२७
कारिका...		१२७
भावानुवाद...		१२७
(विवेकलक्षणकथन)		
दीपिका...		१२८
अनुवाद...		१२८
२-५		
अवतरणिका...		१२९
कारिका...		१२९
भावानुवाद...		१२९
(विवेकके प्रार्थनात्याग स्वामीके आधीन होनेकी भावना, विशेषाज्ञाका अनुसरण और धर्माधर्मका विवेक रख हठाग्रहत्याग रूपी चार उपायोंका परीक्षण)		
दीपिका...		१३०
अनुवाद...		१३१

६. अवतरणिका...	१३५
कारिका...	१३५
भावानुवाद...	१३५
(धैर्यका लक्षणकथन)	
दीपिका...	१३५
अनुवाद...	१३६
७-९.	
अवतरणिका...	१३७
कारिका...	१३८
भावानुवाद...	१३८
(धैर्यके आग्रहत्याग सहन, कायावाणीमनके स्वतः कार्यकलापोंका त्याग और असामर्थ्यकी भावना रूपी चार सोदाहरण उपायोंका परीक्षण)	
दीपिका...	१३८
अनुवाद...	१३९
९-१२.	
कारिका...	१४१
भावानुवाद...	१४१
(आश्रयका लक्षणकथन)	
दीपिका...	१४२
अनुवाद...	१४२
१३-१६.	
कारिका...	१४४
भावानुवाद...	१४४
(आश्रयके चित्तमें भावना और वाणसे कीर्तन अन्याश्रयत्याग अविश्वाससे बचना और उच्चावच कामोंको करनेपर भी जो प्राप्त हो उसका ममतारहित उपभोग रूपी चार उपायोंका परीक्षण)	

दीपिका...	१४५
अनुवाद...	१४६
१७. अवतरणिका...	१४९
कारिका...	१४९
भावानुवाद...	१४९
(ग्रन्थोपसंहार)	
दीपिका...	१४९
अनुवाद...	१५०

नवरत्नकी विषयानुक्रमणिका : (समर्पणका उपदेश)

ग्रन्थपरिचय...	१५२-१६०
प्रकाशमंगलाचरण ...	१६१
भावानुवाद (मंगलाचरण)...	१६१
प्रकाशोपक्रम...	१६१
अनुवाद...	१६२
प्रकाश...	१६३
अनुवाद...	१६३
१. कारिका...	१६४
भावानुवाद...	१६५
प्रकाश...	१६५
अनुवाद...	१६५
२. अवतरणिका...	१६६
कारिका...	१६६
भावानुवाद...	१६६
प्रकाश...	१६६

अनुवाद...	१६७
३. अवतरणिका...	१६८
कारिका...	१६८
भावानुवाद...	१६८
प्रकाश...	१६९
अनुवाद...	१६९
४. अवतरणिका...	१७०
कारिका...	१७०
भावानुवाद...	१७०
प्रकाश...	१७०
अनुवाद...	१७०
५. अवतरणिका...	१७१
कारिका...	१७१
भावानुवाद...	१७१
प्रकाश...	१७१
अनुवाद...	१७२
६. अवतरणिका...	१७३
कारिका...	१७३
भावानुवाद...	१७३
प्रकाश...	१७३
अनुवाद...	१७३
७. कारिका...	१७४
भावानुवाद...	१७४
प्रकाश...	१७४
अनुवाद...	१७४
८. अवतरणिका...	१७५
कारिका...	१७५
भावानुवाद...	१७५

प्रकाश...	१७५
अनुवाद...	१७५
९. अवतरणिका...	१७६
कारिका...	१७६
भावानुवाद...	१७६
प्रकाश...	१७६
अनुवाद...	१७६
प्रकाशोपसंहार...	१७७
अनुवाद...	१७८

सिद्धान्तमुक्तावलीकी विषयानुक्रमणिका :
(श्रीकृष्णसेवाका उपदेश)

ग्रन्थपरिचय...	१७९-१८६
१. कारिका...	१८७
भावानुवाद...	१८७
(मंगलाचरणरूप विषयोपक्रम)	
विवृतिमंगलाचरण...	१८७
अनुवाद...	१८७
विवृति...	१८७
अनुवाद...	१८८
२. अवतरणिका...	१८९
कारिका...	१८९
भावानुवाद...	१८९
विवृति...	१८९
अनुवाद...	१८९

३. अवतरणिका...	१९०
कारिका...	१९०
भावानुवाद...	१९०
(भगवत्सेवाका स्वरूप)	
विवृति...	१९१
अनुवाद...	१९१
४. अवतरणिका...	१९३
कारिका...	१९३
भावानुवाद...	१९३
(ज्ञेय भगवत्स्वरूप)	
विवृति...	१९३
अनुवाद...	१९३
५-८.	
अवतरणिका...	१९४
कारिका...	१९४
भावानुवाद...	१९४
(भगवान्के अवान्तरूप)	
विवृति...	१९५
अनुवाद...	१९६
९. अवतरणिका...	१९८
कारिका...	१९८
भावानुवाद...	१९८
विवृति...	१९८
अनुवाद...	१९९
१०-११.	
कारिका...	१९९
भावानुवाद...	१९९
विवृति...	२००

अनुवाद...	२००
१२-१५.	
अवतरणिका...	२००
कारिका...	२००
भावानुवाद...	२०१
(भगवत्सेवाकर्ता जीवात्माके त्रिविध स्वरूप)	
विवृति...	२०१
अनुवाद...	२०२
१६-१९.	
अवतरणिका...	२०४
कारिका...	२०४
भावानुवाद...	२०४
विवृति...	२०५
अनुवाद...	२०६
२०-२१.	
अवतरणिका...	२०९
कारिका...	२०९
भावानुवाद...	२०९
(सिद्धान्तनिष्कर्ष)	
विवृति...	२१०
अनुवाद...	२१०
भक्तिवर्धिनीविषयानुक्रमणिका :	
ग्रन्थपरिचय...	२११-२२५
(पुष्टिभक्तिकी वृद्धिका उपदेश)	
विवृतिमंगलाचरण...	२२६
१. अवतरणिका...	२२६

कारिका...	२२६
भावानुवाद...	२२६
(उपक्रम)	
विवृति...	२२७
अनुवाद...	२२७
२. अवतरणिका...	२२८
कारिका...	२२८
भावानुवाद...	२२९
(स्वधर्मसे अव्यावृत्त ग्रहस्थके बीजभावकी दृढ़ता)	
विवृति...	२२९
अनुवाद...	२२९
३. अवतरणिका...	२३०
कारिका...	२३०
भावानुवाद...	२३०
(जो अव्यावृत्त न हो पाते हों उनकी भक्तिके वृद्धिके उपाय)	
विवृति...	२३१
अनुवाद...	२३१
४-५.	
अवतरणिका...	२३२
कारिका...	२३२
भावानुवाद...	२३२
(भक्तिकी इन तीन प्रेम आदि अवस्थाके फल)	
विवृति...	२३२
अनुवाद...	२३३
६. कारिका...	२३४
भावानुवाद...	२३४
विवृति...	२३४
अनुवाद...	२३४

७. अवतरणिका...	२३५
कारिका...	२३५
भावानुवाद...	२३५
विवृति...	२३५
अनुवाद...	२३६
७. अवतरणिका...	२३६
कारिका...	२३६
भावानुवाद...	२३६
विवृति...	२३७
अनुवाद...	२३७
८. अवतरणिका...	२३८
कारिका...	२३९
भावानुवाद...	२३९
विवृति...	२३९
अनुवाद...	२३९
९. कारिका...	२३९
भावानुवाद...	२४०
विवृति...	२४०
अनुवाद...	२४०
१०. अवतरणिका...	२४०
कारिका...	२४०
भावानुवाद...	२४१
विवृति...	२४१
अनुवाद...	२४१
११. अवतरणिका...	२४२
कारिका...	२४२
भावानुवाद...	२४२
विवृति...	२४२

अनुवाद...

२४२

उद्धरण तालिका...

२४४-२४९

उद्धरणसंकेतसूचि...

२५०



॥ तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गतम् ॥

॥ शास्त्रार्थप्रकरणम् ॥

(स्वमतीय प्रमाण प्रमेय साधन और फल के स्वरूपोंका प्रतिपादन)

अवतरणिका :

परिभाषाम् आह :

कारिका :

- (^१) वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिंगं भागवते तथा ॥
(^२) 'ब्रह्म' इति 'परमात्मा' इति 'भगवान्' इति शब्दचते ॥६॥
(^३) त्रितये त्रितयं वाच्यं क्रमेणैव मया अत्र हि ॥

भावानुवाद :

परम तत्त्वके परिचायक लिंग वेदान्तमें भगवद्गीतामें और भागवतमें ॥

'ब्रह्म' 'परमात्मा' 'भगवान्' शब्दोंमें प्रयुक्त हुवे हैं ॥६॥

प्रस्तुत तत्त्वार्थदीप निबन्धके भी क्रमशः शास्त्रार्थ सर्वनिर्णय और भागवतार्थ रूपी इन तीन प्रकरणोंमें इन्हीं तीन पक्षोंका प्रतिपादन मुझे करना है ॥

प्रकाश :

वेदान्ते इति साधेन. निर्गलितवस्तुज्ञापकं लिंगं 'ब्रह्म' इत्यादिपदं तत्र-तत्र सिद्धं मयापि परमकाष्ठापन्नवस्तुबोधार्थं तत्तत्प्रकरणे वक्तव्यम् इति अर्थः

अनुवाद :

अब स्वमतीय परिभाषा समझाई जाती है :

वेदान्त इन डेढ़ श्लोकोंमें. परम तत्त्वरूप उस वस्तुके ज्ञापक 'ब्रह्म' इत्यादि तीन पद वेदान्त आदि शास्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं; और उन्हें ही मैं भी परमकाष्ठापन्न वस्तुके प्रतिपादनार्थ तत्तत् प्रकरणोंमें कहने जा रहा हूँ.

(स्वमतकी साधिका प्रमाणव्यवस्था)

स्वसिद्धान्तके उपदेशकालमें अभिप्रेत प्रमाणव्यवस्था :

अवतरणिका :

अस्मिन् शास्त्रे परिभाषाम् उक्त्वा प्रमाणम् आह :

कारिका :

- (^४) वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ॥
(^५) समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥७॥

भावानुवाद :

चारों वेद, भगवद्गीतामें मिलते श्रीकृष्णके वचन, महर्षि बादरायणके ब्रह्मसूत्र आदि ही ॥

महर्षि बादरायण वेदव्यासकी भागवतपुराणमें प्रयोजित समाधिभाषा इन चारोंको ही प्रमाण माना गया है ॥७॥

प्रकाश :

वेदाः इति. शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणम्. वेदाः सर्वएव काण्डद्वयस्थिताः अर्थवादादिरूपा अपि. स्मृतिवत्वेन कृष्णवाक्यानि वेदत्वेऽपि पृथग् उक्तानि. व्याससूत्राणि. चकारात् जैमिनिसूत्राणि च. एवकारेण व्याससूत्राविरोधेनैव तदंगीकरणम्. हि युक्तश्च अयम् अर्थः, उपजीव्यत्वात्. व्यासस्य समाधिभाषा भागवतम्. तत्रापि यद् न लौकिकरीत्या वदति. यथा “अथ उषसि उपवृत्तायाम्” (भाग.पुरा.१.०।६।७।१) इत्यादि. नापि परमतरित्या “श्रुतं द्वैपायनमुखाद्”

(भाग.पुरा.६।१४।९) इत्यादि. यावत्समाधौ स्वयम् अनुभूय निरूपितं सा समाधिभाषा. एतच्चतुष्टयम् एकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकम् इति अर्थः.

अनुवाद :

इस शास्त्रमें अभिप्रेत परिभाषाके प्रतिपादनके बाद अब प्रमाण बताये जाते हैं :

चारों वेद ऐसा जो कहा एतावता केवल शब्दको ही, उनमें भी अलौकिक पदार्थके बोधक शब्दोंको ही प्रमाण माना गया है. अलौकिक पदार्थके बोधक शब्दोंका प्रमाण होना स्वतःसिद्ध होता है. चारों वेद कहनेका प्रयोजन सारे वेद, और उनके पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड में उपलब्ध होते अर्थवाद आदि, को भी प्रमाण माननेके अभिप्रायवश है. वस्तुतः तो वेदरूप ही होनेपर भी स्मृति होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णके वचनोंका प्रमाणतया पृथक् उल्लेख किया गया है. तीसरे बादरायण व्यासके ब्रह्मसूत्र. आदि पदके अर्थतया महर्षि जैमिनिके पूर्वमीमांसासूत्र अभिप्रेत हैं. ही जो कहा उसका अभिप्राय यह है कि महर्षि जैमिनिके पूर्वमीमांसासूत्रोंका प्रमाण होना महर्षि व्यासके सूत्रोंसे विरुद्ध न होनेपर ही स्वीकारा गया है. ही पदके प्रयोगके कारण उक्त धारणाका उपपन्न होना सूचित हुवा, क्योंकि महर्षि जैमिनिके लिये भी वेदव्यास उपजीव्य ही हैं. महर्षि बादरायण वेदव्यासकी समाधिभाषा भागवत पुराणके अन्तर्गत जो उपलब्ध होती है. क्योंकि भागवतमें भी लौकिक रीतिके अनुसार कही गयी बात प्रमाण नहीं मानी गयी है. जैसे “तब प्रातःकाल होनेपर” (भाग.पुरा.१०।६७।१) इत्यादि. इसी तरह परमतके रूपमें कही गयी बातें भी “द्वैपायनके मुखसे ऐसा सुना था” (भाग.पुरा.६।१४।९) इत्यादि वचन. जितनी बातें स्वयं भागवतकारने अपनी समाधिके अन्तर्गत अनुभूत करके कही उसे ‘समाधिभाषा’ कहा जाता है. इन चारोंकी ही परस्पर एकवाक्यता प्रमाकी जनक होती है ऐसा अभिप्राय है.

अवतरणिका :

* ननु चर्तुणां क्व उपयोगः, एकेनैव चरितार्थत्वाच्च ? * इति आशङ्क्य आह :

कारिका :

(६) उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम् ॥

(७) अविरुद्धन्तु यत्तु अस्य प्रमाणं तच्च न अन्यथा ॥

(८) एतदविरुद्धं यत् सर्वं न तद् मानं कथञ्चन ॥८॥

भावानुवाद :

इन चारोंमें क्रमशः पूर्व-पूर्व ग्रन्थोंमें उभरते सन्देहोंका निवारण उत्तरोत्तर ग्रन्थोंसे होता है ॥

अतः इन चारोंसे जो अविरुद्ध हो उसे ही प्रमाण माना गया है जो विरुद्ध हो उसे नहीं ॥

इन चारोंसे विरुद्ध कोई भी या सभी वचन प्रमाण नहीं माने जाते ॥८॥

प्रकाश :

उत्तरम् इति. उत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वस्य सन्देहवारकं प्रकर्षेण कीर्तितम्. यथा “अपाणिपादो जवनो गृहीता” (श्वेता.उप.३।१९) इत्यत्र “किं प्राकृतपाणिपादरहितं ब्रह्म आहोस्वित् सामान्यनिषेधः ?” इति सन्देहे “सर्वतः पाणिपादान्तम्” (भग.गीता.१३।१३) इत्यादि गीतावाक्यं निर्णायकम्. तथा गीतायां “नित्यः सर्वगतः स्थाणुः”, “ममैवांशो जीवलोके” (भग.गीता.२।-२४, १५।७) इत्यादिषु सन्देहे सूत्रैः निर्णयः “उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्” (ब्र.सू.२।३।१९) इत्यादिभिः. तथा “जन्माद्यस्य यतः” (ब्र.सू.१।१।२) इति सन्देहे “अन्वयव्यतिरेकतः” (भाग.पुरा.१।१।१) इति भागवतेन निर्णयः. एतदविरोधेनैव मन्वादीनां प्रामाण्यम् आह अविरुद्धम् इति. वेदादिना अविरुद्धमेव मन्वादिकं प्रमाणम्. क्वचित् संवादः, क्वचिद् विरोधः इति उभयसम्भवे अप्रमाणमेव इति आह एतदविरुद्धम् इति.

अनुवाद :

यहां एक शंका उभरती है कि *चार ग्रन्थोंको प्रमाण माननेकी क्या आवश्यकता है किसी एक ही ग्रन्थके आधारपर क्यों नहीं अपना मत समझाया जाता? * इस लिये अब कहते हैं :

उत्तरोत्तर अर्थात् चारों वेद, श्रीकृष्णवाक्य, ब्रह्मसूत्र और भागवतकी समाधिभाषा, इनमें क्रमशः बादमें आनेवाला ग्रन्थ अपनेसे पहले आनेवाले ग्रन्थमें उभरते सन्देहोंका निवारक होनेके रूपमें प्रकृष्टतया स्वीकारा या कहा गया है। जैसे “वह परमेश्वर कर-चरणोंके बिना ही दौड़ कर किसीको भी पकड़ सकता है” (श्वेता.उप.३।१९) यहां इस वचनमें सन्देह होता है कि क्या ब्रह्म प्राकृत कर-चरणोंसे रहित होता अथवा सर्वथा प्राकृत या अप्राकृत किसी भी तरहके कर-चरण आदि उसमें नहीं होते? इस तरहके सन्देहके निवारणार्थ “उसके कर-चरण सर्वत्र अपना कार्य सम्पन्न कर सकते हैं” (भग.गीता.१३।१३) इस तरहके भगवद्गीताके वचन निर्णायक बन जाते हैं। इसी तरह भगवद्गीतामें भी एक स्थलपर जीवात्माके बारेमें एक स्थलपर “नित्य सर्वगत स्थाणु” (भग.गीता.२।२४) होनेका उल्लेख मिलता है तो दूसरे स्थलपर “जीवात्माके मेरा ही अंश जानना चाहिये” (भग.गीता.१५।७) इस तरहका उल्लेख मिलता होनेके कारण सन्देह होता हो तो ब्रह्मसूत्रोंके “जीवात्मा अंश है क्योंकि उसका शरीरसे उत्क्रमण और शरीरमें उसका आवागमन निरूपित हुवा है” (ब्र.सू.२।३।१९) इस तरहके ब्रह्मसूत्रोंके आधारपर सन्देहका निराकरण शक्य ही है। इसी तरह “इस जगत्के जन्म आदि जिसके कारण होते हैं उसे ब्रह्म समझना चाहिये” (ब्र.सू.१।१।२) इस वचनमें कर्ता अथवा समवायी किस तरहका कारण विवक्षित है? ऐसे सन्देहका निवारण “इस जगत्के जन्म आदि उसके अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर निश्चित होते हैं” (भाग.पुरा.१।१।१) इस भागवतवचनके आधारपर शक्य है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंका प्रामाण्य भी इन चारोंके साथ एकवाक्यताके आधारपर ही मान्य किया गया है इस अपने दृष्टिकोणको

इन चारोंसे अविरुद्ध इस अंश द्वारा किया जाता है। वेद आदिसे अविरुद्ध होनेपर ही मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंका प्रामाण्य मान्य किया गया है। किसी ग्रन्थकी कहीं इन चारोंके साथ संवादितता और कहीं विसंवादितता या विरुद्धता झलकती हो तब उन्हें अप्रमाण मान कर ही चलना चाहिये यह कहनेको इन चारोंसे विरुद्ध इस तरहका खुलासा दिया गया है।

स्वसिद्धान्तके भलीभांति बुद्धिगत हो जानेके बाद अभिप्रेत प्रमाणव्यवस्था :

अवतरणिका :

एवं पूर्णज्ञानोदयावधि यद् ग्राह्यं प्रमाणत्वेन तद् निरूप्य तदनन्तरं यत् प्रमाणं तद् आह :

कारिका :

(९) अथवा सर्वरूपत्वात् नामलीलाविभेदतः ॥

(१०) विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेव हि ॥९॥

भावानुवाद :

अथवा ब्रह्ममेंसे प्रकट होनेवाली सृष्टिमें सारे नाम-रूप-कर्मोंको धारण करनेवाला स्वयं ब्रह्म ही है अतः ॥

नाम-रूप-कर्मोंके परस्पर विरुद्धतया भासित होनेवाले अंशोंमें विरोधपर ध्यान न दिया जाये तो सभी या कोई भी वचन प्रमाण ही होता है ॥९॥

प्रकाश :

अथवा इति, वाङ्मात्रमेव प्रमाणम्, अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्। तदेव आह सर्वरूपत्वाद् इति। रूपलीलावत् नामलीलायाः विभेदानां वक्तव्यत्वात् नानाविधानि वाक्यानि प्रवृत्तानि। विरुद्धवाक्यत्वेनैव परस्परं

भासमानेषु अवरोधप्रकारम् आह विरुद्धांशपरित्यागाद् इति. विरुद्धांशपरित्यागो द्वेधा वक्तव्यः : १. भगवत्सामर्थ्येन अलौकिकप्रकारेण २. भगवतः सर्वरूपत्वेन वा. अतो युक्तएव अवरोधः.

अनुवाद :

इस तरह स्वसिद्धान्त भलीभांति समझ पानेको अभिप्रेत प्रमाणव्यवस्था समझा कर अब स्वसिद्धान्त भलीभांति बुद्धिगत हो जानेपर जो प्रमाणतया अभिप्रेत है उसका निरूपण किया जाता है :

अथवा इस पदके प्रयोग द्वारा वाणीमात्रको प्रमाण मान लिया गया है, क्योंकि प्रत्येक शब्दका अर्थ तो भगवान् ही हैं. इसी तथ्यको सारे नाम-रूप-कर्मोंको धारण करनेवाला इस अंशद्वारा स्पष्ट किया जा रहा है. ब्रह्म सृष्टिलीलामें जैसे नानाविध रूपोंको धारण करता है उसी तरह नानाविध नामोंको भी लीलार्थ धारण करता है, यह विभेद आगे चल कर समझाना अभिप्रेत है तदनुसार नानाविध वाक्योंकी भी सार्थकता उपपन्न हो पाती है. अतः जिन वचनोंमें परस्पर विरोधाभास लगता हो उनके विरोधाभासके उपशमका प्रकार विरोधपर ध्यान न दिया जाये इस अंशद्वारा समझाया गया है. विरोधाभासका उपशम दो तरह शक्य है : १. अलौकिकताके विचारद्वारा भगवत्सामर्थ्यके आधारपर २. अथवा भगवान् ही सृष्टिमें प्रकट सारे नाम-रूप-कर्मोंको धारण करनेवाले हैं अतः विरोधाभासी नाम-रूप-कर्मोंमें अवरोध होना युक्त ही है.

इस प्रतिपादनमें उभरती शंकाओंका समाधान :

अवतरणिका :

उक्तमानचतुष्टयविरोधे मन्वादिस्मृतिनाम् अप्रामाण्यमेव इति उक्तम् तद् न युक्तं “यद् वै किञ्चन मनुः अवदत् तद् भेषजम्” (तैत्ति.संहि.२।२।१०।२) इति श्रुतेः मन्वादीनाम् उक्तमानविरोधेऽपि प्रामाण्यस्य

अवश्यवाच्यत्वाद् इत्यतः आह :

कारिका :

(११) द्वापरादौ तु धर्मस्य द्विपरत्वाद् द्वयं प्रमा ॥

(१२) विरुद्धवचनानां च निर्णयानां तथैव च ॥१०॥

भावानुवाद :

द्वापर युगके आदिसे ही धर्म स्वयं द्विपर हो गया होनेके कारण दोनों ही तरहकी प्रमाबुद्धि प्रकट होने लगी है ॥

अतएव परस्पर विरुद्ध वचन और उनके विरोधाभासोंको परिहार करनेवाले प्रमापक निर्णय भी द्विपर बन गये हैं ॥१०॥

प्रकाश :

द्वापरादौ तु इति, चोदनाविषयत्वेन अवश्यकर्तव्यताकत्वेन अभिमतो अर्थो अत्र ‘धर्म’शब्देन उच्यते तस्य द्वे श्रुतिस्मृती उभेऽपि परे प्रमापिके यस्य तादृशत्वाद् द्वयं, श्रुतिः तत्संवादिन्यसंवादिनी च मन्वादिस्मृतिः च एतद्द्वयमपि प्रमा प्रमाणम् इति अर्थः. यद्वा पूर्वोक्तधर्मस्य उक्तरीत्या द्विपरत्वात् श्रुतिसंवादिनी असम्वादिन्यपि स्मार्ते धर्मे कर्तव्यताज्ञानं प्रमा इति अर्थः. विरुद्धयोः अवरोधख्यापनार्थं साम्प्रतं लौकिकं दृष्टान्तम् आह विरुद्धवचनानाम् इति. यथा स्मृतिवाक्यानि परस्परं विरुद्धानि स्मृतिव्याख्यानकारैः अवरोधप्रकारेण निर्णयन्ते, तथा निर्णयानामपि परस्परविरुद्धानां वैष्णवस्मार्तादिभेदेन अवरोधः इति अर्थः.

अनुवाद :

उक्त प्रमाणचतुष्टयीसे विरुद्ध लगते होनेपर मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंका जो अप्रामाण्य मान लिया गया वह उचित नहीं है, क्योंकि “क्योंकि जो कुछ मनुने कहा वह तो ओषधिरूप ही है” (तैत्ति.संहि.२।२।१०।२)

इस श्रुतिवचनके आधारपर उक्त प्रमाणचतुष्टयीसे विरुद्ध भी मनुस्मृति जैसे ग्रन्थोंको तो प्रमाण ही मानना चाहिये इस आक्षेपके समाधान किया जाता है :

द्वापर युगके आदिसे ही यहां शास्त्राज्ञारूप होनेके कारण जो कर्तव्य हमारेलिये अनिवार्य हों उन्हें 'धर्म' कहना यहां अभिप्रेत है. अतएव 'धर्म'शब्दद्वारा कर्तव्यका उल्लेख किया जा रहा है. ऐसे धर्मका निर्णयार्थ द्विपर अर्थात् श्रुति और स्मृति दोनोंके ही आधारपर धर्मके बारेमें प्रमा प्रकट होती है. अतः दोनों ही तरहकी, श्रुति और उसके साथ संवादिनी अथवा विसंवादिनी भी मनुस्मृति सदृश ग्रन्थ भी प्रमापक अर्थात् प्रमाबुद्धिके जनक बन गये हैं. अथवा पूर्वोक्त धर्म स्वयं ही उक्तरीतिके अनुसार द्विपर बन गया होनेसे श्रुतिकी सम्वादिनी और इसी तरह विसम्वादिनी स्मृतियां स्मार्त धर्मके कर्तव्योंके अनुष्ठानमें धर्मप्रमा के रूपमें मान्य हुयी हैं. इस तरह परस्पर विरुद्धवचनोंमें विरोधके उपशमनार्थ लौकिक दृष्टान्तद्वारा उपपादित किया जाता है परस्पर विरुद्ध वचनोंका इस अंशद्वारा. जैसे स्वयं स्मृतिओंके वचनोंमें परस्पर विरुद्धता झलकती हो तब स्मृतिओंके व्याख्यान करनेवाले इस तरहका ही व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं कि दोनों वचनोंमें झलकते विरोधका कथंचित् परिहार हो जाये, इस तरह दिये गये परस्पर विरुद्ध निर्णय भी वैष्णवोंके कर्तव्यनिर्णयार्थ अथवा स्मार्तके कर्तव्यनिर्णयार्थ हैं ऐसा अधिकारिभेदसे विरोधोपशामक समाधान प्रस्तुत किया जाता है.

अवतरणिका :

अत्र प्रमाणचतुष्टये श्रुतिः सूत्राणि एका कोटिः, गीता भागवतं च अपरा स्पष्टैव. तत्र उभयत्र प्रमेयभेदाभावे, द्वयनिरूपणार्थं भेदे विरोध इति कथम् एकवाक्यता? इति आशंक्य द्वयं समर्थयितुम् आह :

कारिका :

(१) यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे ॥

(१३) अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते ॥११॥

भावानुवाद :

वेदोंके पूर्वकाण्डमें श्रीहरिका यज्ञोंके रूपमें प्रतिपादन हुवा है और पर काण्डमें श्रीहरिके ब्रह्मरूपका ॥

श्रीभागवतमें भूतलपर विविध अवतार लेनेवाले श्रीहरि=श्रीकृष्णका प्रतिपादन अभीष्ट है ॥११॥

प्रकाश :

यज्ञरूपः इति. “यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः” (श्वेता.उप. ।) इति श्रुतेः ज्ञानक्रियोभययुतः सर्वेषाम् अर्थः. तत्र क्रियायां प्रविष्टः क्रियारूपो यज्ञात्मा पूर्वकाण्डार्थः. ज्ञाने प्रविष्टो ज्ञानात्मा ब्रह्मरूपः उत्तरकाण्डार्थः. ‘तनु’शब्दः साकारब्रह्मप्रतिपादनाय. परे उत्तरस्मिन् काण्डे. क्रिया ज्ञानं च द्वयं प्रकटीकृत्य यो अवतीर्णः कृष्णः स श्रीभागवते विशिष्टो निरूप्यते, अतः खण्डशो निरूपणं वेदे, भागवतेतु समुदायेन निरूप्य तस्य लीला अनेकविधाः निरूप्यन्ते इति एकार्थत्वेऽपि पृथग् वचनं युक्तम् इति अर्थः.

अनुवाद :

यहां प्रस्तुत प्रमाणचतुष्टयीके अन्तर्गत श्रुति और सूत्रों की एक कोटि बनती है. इसी तरह गीता और भागवत की दूसरी कोटि स्पष्ट है. इन दोनों कोटियोंमें प्रमेयोंका कोई भेद न होनेपर भी, दो प्रमेयोंको निरूपण स्वीकारनेपर किसी न किसी तरहका भेद और तन्मूलक विरोध भी खड़ा होगा ही तब एकवाक्यता कैसे निभ पायेगी? इस शंकाके समाधानार्थ दोनों कोटियोंके समर्थनार्थ अग्रिम वचन कहा जाता है :

यज्ञोंके रूपमें कहनेका आशय यह है : “जो सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है” (श्वेता.उप. ।) इस श्रुतिके वचनमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों तरहकी शक्तिओंसे सम्पन्न श्रीहरि सभी वचनोंके अर्थ या प्रमेय होते हैं. जब श्रीहरि क्रियामें प्रविष्ट होते हैं तो

क्रियारूप यज्ञात्मक बन कर पूर्वकाण्डके अर्थ बनते हैं. ज्ञानमें प्रविष्ट होनेपर ज्ञानात्मक बन कर ब्रह्म होनेके रूपमें उत्तरकाण्डके अर्थ बनते हैं. 'रूप'शब्दः साकार ब्रह्मके प्रतिपादनार्थ प्रयुक्त हुवा है. पर यानि उत्तर काण्डमें. क्रिया और ज्ञान दोनोंसे विशिष्ट हो कर जो अवतीर्ण हुवे ऐसे श्रीकृष्णका निरूपण श्रीभागवतमें हुवा है. अतः वेदोंमें क्रिया और ज्ञान के खण्डोंमें उस तत्त्वका निरूपण मिलता है, जबकि भागवतमें तो उन क्रिया-ज्ञानके समुदायेन निरूपण कर उसकी अनेकविध लीला निरूपित हुयी हैं. अतः वैसे तो चारों ही एकार्थक ही हैं फिरभी इनमें कुछ पृथक्ता भी विवक्षित होती ही है.

अवतरणिका :

वेदे पुराणे च क्वचिद् अन्यार्थप्रतिपादनम् आशंक्य तेषाम् अंगत्वम् इति अभिप्रायेण आह :

कारिका :

(१४) सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानांगम् ईर्यते ॥

(१५) पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस् तथा ॥१२॥

भावानुवाद :

सूर्य आदि अनेक रूपोंको धारण करनेवाले ब्रह्मके ज्ञानार्थ उपयोगी अंगोंका ब्रह्मकाण्डमें ब्रह्मज्ञानके अंगतया निरूपण हुवा है ॥

इसी तरह सभी पुराणोंमें भी तत्तद्रूप श्रीहरिका ही वर्णन मानना चाहिये ॥१२॥

प्रकाश :

सूर्यादिरूपधृग् इति. ब्रह्मकाण्डे ज्ञानसिद्धयर्थम् उपासनाः निरूप्यन्ते. तत् चित्तशुद्धिरैव इति केचित्. फलदानद्वारा माहात्म्यप्रतिपादनेन भक्तिद्वारा इति सिद्धान्तः. तथा पुराणोक्तानां दुर्गागणपतिप्रभृतीनां विशिष्टशेषत्वम् आवरणदेवतात्वेन, तथापि भिन्नार्थत्वम् आशंक्य तत्तद्रूपो हरिस् तथा

इति उक्तम्. साधनरूपः फलरूपः च स्वयमेव इति एकवाक्यता.

अनुवाद :

स्वयं वेद और पुराण भी कहीं-कहीं अन्य भी कुछ पदार्थ प्रतिपादित हैं ही अतः इस शंकाके निवारणार्थ वे अन्यतया भासित होते पदार्थ प्रस्तुत क्रिया, ज्ञान और उभयविशिष्ट श्रीहरिके स्वरूपप्रतिपादनोपयोगी अंगोंके रूपमें प्रतिपादित हुवे हैं, ऐसा अभिप्राय प्रकट करनेको कहते हैं :

सूर्य आदि अनेक रूपोंको धारण करनेवाले अर्थात् : ब्रह्मकाण्डमें ब्रह्मज्ञानको सिद्ध करनेकेलिये उपासनाएं निरूपित हुयी हैं. वे उपासकका चित्त शुद्ध करनेको ही ब्रह्मकाण्डमें पहले निरूपित हुयी हैं, ऐसा कुछ लोग मानते हैं. अपना सिद्धान्त तो यही है कि फलदानद्वारा वे उपासनाएं ब्रह्मके माहात्म्यका प्रतिपादन कर ब्रह्मके बारेमें स्नेहरूपा भक्ति कथंचित् प्रकट हो पाये तदर्थ कही गयी हैं. इसी तरह पुराणोंमें उपलब्ध होते अनेकविध दुर्गा गणपति प्रभृति देवताओंको भी क्रिया-ज्ञानविशिष्ट ब्रह्मके शेषतया आवरणदेवताओंके रूपमें प्रतिपादित किया गया है. फिरभी कुछ न कुछ भिन्नार्थकता स्वीकारनी ही पड़ेगी ऐसी शंकाके निवारणार्थ कहा गया हैं. तत्तद् रूप श्रीहरिका ही वर्णन मानना चाहिये. वही स्वयं साधनरूप होता है और वही स्वयं फलरूप भी होता है. अतः इन चारों ग्रन्थोंकी एकवाक्यताको हानि नहीं पहुंचती है.

(स्वमतके अनुसार प्रमेयस्वरूपका प्रतिपादन)

प्रमेयके अन्तर्गत जडजीवात्मक जगत्के स्वरूपका प्रतिपादन :

अवतरणिका :

एवं स्वप्रवृत्तिम् उपपाद्य बाधकशास्त्राणां निवृत्त्यर्थं शास्त्रम् आरभते :

कारिका :

(१६) प्रपञ्चो भगवत्कार्यसु तद्रूपो मायया अभवत् ॥

(१७) तच्छक्त्या अविद्यया तु अस्य जीवसंसार उच्यते ॥२३॥

भावानुवाद :

यह प्रपञ्च भगवान्का कार्य है और वह भगवान् प्रपञ्चका रूप मायाको अपना उपकरण बना कर धारण करते हैं ॥

भगवान्की रमणार्थ शक्तिरूपा अविद्याके कारण ही परन्तु प्रपञ्चको 'जीवसंसार' कहा जाता है ॥२३॥

प्रकाश :

प्रपञ्च इति, प्रपञ्चमेव 'मिथ्या' इति उक्त्वा शुद्धं भजनं वारयन्ति. तथा अन्ये जीवं व्यापकम् उक्त्वा. अतः उभयनिराकरणार्थं जीवजडयोः स्वरूपम् उच्यते :

अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो, नापि परमाणुजन्यो, नापि विवर्तात्मा, नापि अदृष्टादिद्वारा जातो, नापि असतः सत्तारूपः; किन्तु, भगवत्कार्यः परमकाष्टापन्नवस्तुकृतिसाध्यः. तादृशोऽपि भगवद्रूपः. अन्यथा असतः सत्ता स्यात्. साच अग्रे वैनाशिकप्रक्रियानिराकरणे निराकरिष्यते. वैदिकस्तु एतावानेव सिद्धान्तः.

भगवन्मायास्वरूपप्रतिपादनम् :

वैष्णवानुसारेण किञ्चित् साधनम् अधिकम् आह मायया अभवद् इति, मायाहि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता. यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम्. तेन स्वसामर्थ्येन अन्यानुपजीवनेन स्वात्मरूपं प्रपञ्चं कृतवान् इति फलितम्. अत्र संसारप्रपञ्चयोः भेदाज्ञानात् केचिन् मुग्धाः भवन्ति. तन्मोहनिराकरणाय भेदं निरूपयति अविद्यया इति. अविद्यापि तच्छक्तिः. मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनात्. "श्रिया पुष्ट्या गिरा..." (भाग.पुरा.१०।३६।५५) इति वाक्यात्. एवं सति, "सर्वे नैव रेमे,

तस्माद् एकाकी न रमते, स द्वितीयम् ऐच्छत्, स ह एतावान् आस” (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुतौ रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेण आविर्भावोक्तेः वैचित्र्यं विना तदसम्भवो यतः, तस्माद् हेतोः अस्य भगवतः शक्त्या अविद्यया जीवस्य संसारः उच्यते, नतु जायते, अभिमत्यात्मकत्वाद्, असत्त्वेन अस्य गणनात्. ‘अज्ञानं’, ‘भ्रमो’, ‘असद्’ इत्यादिशब्दाः अहं-मम-इतिरूपे संसारएव प्रवर्तन्ते नतु प्रपञ्चे, इति अर्थः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्.

इदम् उक्तम् भवति : वस्तुतस्तु “स वै नैव रेमे” (बृह.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुतिभ्यो रमणार्थमेव प्रपञ्चरूपेण आविर्भावात्, तदन्तःपातिपुरुषरूपेण तत्कृतसाधनरूपेण आविर्भूय तत्फलरूपेण च आविर्भवन् क्रीडति भगवान्. एवं सति “अहम् एतत्कर्मकर्ता”, “एतज्जनितं फलं च मम”, “अहम् एतस्य भोक्ता” इत्यादिज्ञानानि स्वस्य स्वक्रियायाः तत्फलस्य च अब्रह्मत्वेन ज्ञानाद् भ्रमरूपाणि इति मन्तव्यम्. सच अहंताममतात्मको अविद्यया क्रियते. तत्त्वज्ञाने सति उक्तरूपत्वज्ञानात् निवर्तते, नतु प्रपञ्चो ब्रह्मात्मकत्वात्. * ननु प्रपञ्चात्मकस्य घटादेः दण्डमुद्गरात्मकेन तेन तिरोभाववत् तत्त्वज्ञानात्मकेन तेन संसारात्मकस्य तस्य तिरोभावः इत्यपि सुवचम् अतो न अविद्याहेतुकत्वम् असत्त्वं वा संसारस्य वाच्यं, प्रपञ्चमध्यपातित्वेन ब्रह्मात्मकत्वात्. नच * एवं संसारस्य नित्यतापत्त्या मुक्त्युच्छेदः * इति वाच्यं, यत्कालावच्छेदेन यस्मिन् पुरुषे संसाररूपेण आविर्भावः तदवच्छेदेन संसारित्वं तस्य उच्यते. मुक्तिरूपेण आविर्भावितुं मुक्तत्वम् इति उपपत्तेः. यथा घटादिषु आमदशायां श्यामरूपेण आविर्भावे तथात्वव्यवहारः, पक्वे रक्तत्वव्यवहारः तद्रूपेण आविर्भावात् तथा इति. नच * अविद्यया बन्धः इति श्रुत्यादिप्रसिद्धेः नैवम् * इति वाच्यं, दण्डघटादिसमानयोगक्षेमत्वात् प्रसिद्धेः. एवं शुद्धो ब्रह्मवादः सिद्धो भवति सन्मते. अन्यस्य अणोरपि प्राप्ती मायापक्षो न किं भवेत्? *, न भवेत्, श्रुतितो हि प्रपञ्चस्य ब्रह्मता उच्यते. तस्य नित्यत्वाद् आविर्भावतिरोभावौ उच्येते, तौच विद्यमानस्यैव वस्तुनः सम्भवतो न असतः, सतश्च न असत्त्वम्. तथाच संसारस्य अविद्याहेतुकत्वमेव श्रुतिः वदति, न प्रपञ्चवद् ब्रह्मरूपताम्. प्रपञ्चरूपेण

आविर्भावम् उक्त्वा यद् अविद्यया संसारम् आह, विद्यया तदभावं च आह, अतः प्रपञ्चभिन्नत्वम् अवश्यम् उररीकार्यम्. तथा सति असत्त्वमेव सम्पद्यते संसारस्य. यच्च उक्तं “दण्ड-मुद्गर-घटादिसमानयोगक्षेमत्वम् अविद्याविद्याकृतबन्धमोक्षयोः” इति, तत्रापि उच्यते : स्याद् एवम् * यदि प्रपञ्चमध्यपातित्वं स्यात् संसारस्य * नच एवं, कारणभेदात्. नहि यौक्तिकम् इदं शास्त्रे, किन्तु श्रौतम् इति आस्तिकैः तथैव मन्तव्यम् इति.

अनुवाद :

इस तरह स्वमतके उपदेशार्थ प्रवृत्तिके हेतुके उपपादनके बाद जो शास्त्र इस मतमें बाधक बन सकते हैं उनके निराकरणार्थ स्वशास्त्रका आरंभ करते हैं :

प्रपञ्च पदके प्रयोगका अभिप्राय यह है कि प्रपञ्चको ‘मिथ्या’ कह कर कुछ लोग शुद्धभजनका निवारण करते हैं. इसी तरह दूसरे कुछ जीवको ‘व्यापक’ कह कर शुद्ध भजनका वारण करते हैं. अतः ऐसे दोनों मतोंके निरसनार्थ जड़ और जीव का स्वरूप समझाना आवश्यक लगता है :

यह प्रपञ्च न तो प्राकृत है, न परमाणुओंसे घड़ा गया, यह मायाका विवर्त भी नहीं, पुण्य-पापरूप अदृष्ट आदिके प्रभाववश प्रकटा हुवा भी नहीं, और न किसी तरहके असत्मेंसे सत्ताके रूपमें जनित. यह प्रपञ्च, किन्तु, भगवत्कार्य है अर्थात् उस परमकाष्ठापन्न वस्तुरूप ब्रह्मकी कृतिसे साधित और वैसा होनेपर भी भगवद्रूप ही होता है. अन्यथा असत् पदार्थका सत्तामें रूपान्तरण स्वीकारना पड़ेगा. असत्मेंसे सत्ताके रूपमें रूपान्तरणका प्रतिपादन करनोवाली वैनाशिकी प्रक्रियाका आगे चल कर निराकरण किया जानेवाला है. वैदिक सिद्धान्त तो इतना ही है.

भगवान्की मायाके स्वरूपका प्रतिपादन :

वैष्णव मतके अनुसार कुछ थोड़ीसी अधिक प्रक्रिया भी बतानेको मायाको उपकरण बना कर धारण करते हैं। इस विधानको यों समझना चाहिये कि माया तो भगवान्की और भगवान्में ही अवस्थित सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति है। जैसे किसी भी पुरुषमें किसी तरहके कर्मको सम्पन्न करनेकी सामर्थ्य होती है। तदवत् ही। अतः स्वयं अपनी सामर्थ्य अर्थात् दूसरे किसीका सहारा लिये बिना ही स्वयं स्वात्मक जगत् भगवान्ने रचा है, यह फलित होता है। यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि संसार और प्रपञ्च के बीच रहे प्रभेदको भलीभांति जान न पानेके कारण, किन्हीं विचारकोंमें मोह उत्पन्न हो जाता है। उनके मोहके निराकरणार्थ प्रपञ्च और संसार का भेद दिखलाया जा रहा है भगवान्की रमणार्थ शक्तिरूपा अविद्याके कारण इन पदोंके प्रयोगद्वारा। अविद्या भी भगवान्की ही आत्मरमणोपयोगी अनेक शक्तिओंमें से एक शक्ति है। क्योंकि मुख्य बारह शक्तिओंके भीतर उसका परिगणन किया गया है “श्रिया पुष्ट्या गिरा...” (भाग.पुरा.१०।३६।५५) इस वचनमें। ऐसी स्थितिमें, “एकाकी वह रमण नहीं कर पाया, अतएव कोई भी एकाकी व्यक्ति रमण नहीं कर पाता, उसे अपने अलावा दूसरेकी इच्छा हुयी, और वह यह सब कुछ बन गया” (बृह.उप.१।४।३) इस श्रुतिमें रमणार्थ ही ब्रह्मका प्रपञ्चरूपेण आविर्भाव स्वीकारा गया है; और क्योंकि वैचित्र्यके बिना रमण सम्भव नहीं हो पाता अतः इसकी अर्थात् भगवान्की रमणौपधिक अविद्या शक्तिके कारण प्रपञ्चको ‘जीवका संसार’ कहा जाता है, वस्तुतः वह उत्पन्न नहीं होता, केवल आन्तरिक अभिमतिरूप ही होता है, बाह्यार्थतया वह कहीं सत् नहीं होता। ‘अज्ञान’, ‘भ्रम’, ‘असद्’ इत्यादि शब्द अहंता-ममता-रूप होते हैं और संसारके बारेमें ही सार्थक होते हैं प्रपञ्चके बारेमें नहीं; क्योंकि प्रपञ्च तो ब्रह्मात्मक ही होता है।

यहां आशय यह है : वस्तुतस्तु “एकाकी वह रमण नहीं कर

पाया” (बृह.उप.१।४।३) इत्यादि श्रुतिवचनोंमें रमणार्थ ही ब्रह्मका प्रपञ्चरूपेण आविर्भाव होना स्वीकारा गया है। अतः प्रपञ्चमें प्रकट होनेवाले पुरुषोंके और उनके साधनोंके रूपोंमें आविर्भूत हो कर उन-उन फलोंके रूपमें भी आविर्भूत हो कर भगवान् क्रीड़ा करते हैं। ऐसी स्थितिमें “मैं इस कर्मका कर्ता हूँ”, “इस कर्मद्वारा उत्पन्न होनेवाला फल मेरा है”, “मैं इस फलका भोक्ता हूँ” इत्यादि प्रकारके ज्ञानोंमें स्वयं अपना, अपने किये हुवे कर्मोंका, उन कर्मोंके फलोंका भी ब्रह्मतया भान न होता होनेके कारण ऐसी सभी अभिमति भ्रान्तिरूपा माननी चाहिये। यह अहंता-ममतात्मक संसार अविद्यावश प्रकट होता है। ब्रह्मके तात्त्विक ज्ञान होनेपर ऐसी अहंता-ममता निवृत्त हो जाती है, प्रपञ्च, परन्तु, ब्रह्मात्मक होनेसे निवृत्त नहीं होता।

* यहां एक शंका हो सकती है कि प्रपञ्चात्मक घट आदि वस्तुओंका भी दण्डा या मुद्गर आदि साधनोंसे तिरोभाव(नाश)की तरह ही संसारका भी ब्रह्मज्ञानसे भी तिरोभाव ही क्यों नहीं माना जा सकता! अतः संसारका भी अविद्याहेतुक होना या असत् होना प्रतिपादित नहीं करना चाहिये, प्रपञ्चमध्यपाति होनेके कारण ब्रह्मात्मक ही होनेसे। ऐसा माननेपर, परन्तु, संसारको नित्य भी मानना पड़ेगा और तब तो मुक्तिका ही उच्छेद हो जायेगा! ऐसी आशंका व्यर्थ है क्योंकि जिस कालमें जब जिस पुरुषमें ब्रह्मका संसारके रूपमें आविर्भाव होता है उस कालमें उस पुरुषके भीतर संसारिता कही जा सकती है। ब्रह्मके मुक्तिरूपेण आविर्भूत होनेपर जीवको मुक्त भी कहा जा सकेगा, ऐसी उपपत्ति भी सोची क्यों नहीं जा सकती? मिट्टीका कच्चा घड़ा श्याम रंगका होता है और वही पक जानेपर लाल रंगका बन जाता है। इसी तरह जीवके बारेमें भी सोचा क्यों नहीं जा सकता! अविद्याके वश जीव बद्ध होता है ऐसे श्रुतिओंमें प्रसिद्ध होनेके कारण कोई अनुपपत्ति सोची जाती हो तो वह युक्तियुक्त नहीं लगती क्योंकि दण्ड-घड़ेके समान ही संसार और मुक्ति के बारेमें समान योगक्षेम स्वीकारना चाहिये। इस तरह ब्रह्मवाद अपने

विशुद्ध रूपमें प्रकट हो पायेगा. और संसारको भी लेशमात्र मायिक माननेपर तो प्रपञ्चको भी मायिक मान लेनेमें आपत्ति होनी नहीं.

इसका समाधान परन्तु धैर्यपूर्वक विचारनेपर यह सोचा जा सकता है कि प्रपञ्चको श्रुतिप्रमाणके आधारपर ब्रह्मात्मक माना जा रहा है नकि युक्तिके बलपर. ब्रह्मात्मक होनेके कारण नित्य होना अनिवार्य है अतः उत्पत्ति-नाश न मान कर आविर्भाव-तिरोभाव स्वीकारा गया है. वे आविर्भाव-तिरोभाव तो विद्यमान वस्तुके ही शक्य होते हैं, सर्वथा अविद्यमान असत् वस्तुके नहीं. सत् कभी असत् हो नहीं सकता है. इसी तरह संसारकी अविद्याहेतुकता ही श्रुति दर्शाती है, नकि प्रपञ्चकी तरह ब्रह्मरूपता. अतः प्रपञ्चके रूपमें आविर्भाव दिखला कर अविद्याके वश संसार जो निरूपित हुवा है और विद्याके वश संसारकी निवृत्ति भी, अतः संसारको प्रपञ्चसे भिन्न मानना ही पड़ता है. अतः संसारकी असत्ता ही सिद्ध होती है. यहां उल्लेखनीय हो जाता है कि दण्ड या मुद्गर से घड़ा आदिके विनाशके समान ही संसारके भी अविद्यासे आविर्भाव और विद्यासे तिरोभाव की समान योगक्षेमताकी युक्तिका समाधान यही है कि ऐसा तब सम्भव होता जब संसार प्रपञ्चके मध्यपाती होता! कारणभेदवशात् संसारकी कथा प्रपञ्चकी तरह मानी नहीं जा सकती. यह कोई यौक्तिक शास्त्र नहीं यह तो श्रौत शास्त्र है अतः आस्तिकोंको जैसे श्रुतिआदि शास्त्रोंमें प्रतिपादन मिलता हो वैसा मत प्रस्तुत करना चाहिये.

अवतरणिका :

सर्वत्र परिच्छेदस्य प्रयोजनम् आह—

कारिका :

(१८) अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म हि अविभक्तं विभक्तिमत् ॥२६॥

(१९) “बहु स्यां प्रजायेय” इति वीक्षा तस्य हि अभूत् सती ॥

भावानुवाद :

ब्रह्म ही अनन्त (असंख्य) मूर्त (परिच्छिन्न) रूपोंको धारण कर अनन्त विभागोंमें एक अविभक्त बन जाता है ॥२६॥

उस ब्रह्मको “मैं बहुत सारे रूप धारण कर अनेकविधता प्रकट करूँ” ऐसी सच्ची कामना बननेकी हुयी ॥

प्रकाश :

अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म इति, ‘अनन्त’पदस्य इममेव अर्थ ज्ञापयितुं ‘हि’शब्दः. तर्हि खण्डशः स्याद् इति आशङ्क्य आह अविभक्तम् इति. अनन्तमूर्तिष्वपि न परस्परं विभेदः. केवलम् इच्छया तावन्मात्रप्रकटनार्थं विभक्तिमत्. एतत्स्वरूपम् उक्त्वा ततः सृष्टिं वक्तुं तदिच्छां कारणत्वेन आह बहु स्याम् इति, अनेकत्वम् उच्चनीचत्वं च भावयामास. भावना तस्य सती विषयाव्यभिचारिणी.

अनुवाद :

ब्रह्म देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न होनेपर भी लीलार्थ अपनी परिच्छिन्नता प्रकट करता है क्योंकि :

ब्रह्ममें अनन्त (असंख्य) मूर्त (परिच्छिन्न) रूपोंको यहां ‘अनन्त’पदका यह अर्थ होता है ऐसा जतानेको ‘ही’शब्दका प्रयोग किया गया है. अपरिच्छिन्नका परिच्छिन्न बनना उसे खण्डित नहीं करता यह जतानेको उसे अविभक्त कहा. ब्रह्मके इन असंख्य मूर्त रूपों में भी परस्पर आत्यन्तिक विभेद नहीं मानना चाहिये. अपनी लीलेच्छाके वश ही वह उतनामात्र प्रकट होनेको विभागोंमें प्रकट हो जाता है. ऐसा स्वरूप दिखला कर बादमें सृष्टिके निरूपणार्थ उसकी इच्छाको कारणतया कहा जा रहा है मैं बहुत सारे रूप धारण करूँ इस अंशद्वारा. अनेकविधता का अर्थ होता है उच्चावचता

प्रकट करना. उसकी अनेक बननेकी कामना सच्ची अर्थात् कामनाके विषयको प्रकट किये बिना रह न पाये ऐसी होती है.

जीवके स्वरूपका प्रतिपादन :

अवतरणिका :

ततो यद् जातं तद् आह :

कारिका :

(२०) तदिच्छामात्रतस् तस्माद् ब्रह्मभूतांश्चेतनाः ॥२७॥

(२१) सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास् तदिच्छया ॥

(२२) विस्फुलिङ्गा इव अग्नेस्तु.....

भावानुवाद :

केवल उसकी इच्छाके कारण ही उसमेंसे ब्रह्मात्मिका असंख्य आंशिकी चेतना प्रकट हुयी ॥२७॥

वे सभी चेतनाएं सृष्टिके आदिमें ब्रह्ममेंसे बाहर निकल कर स्वयं ब्रह्मकी ही इच्छाके अनुरूप आकाररहित बन गयीं ॥

अग्निमेंसे चिनगारीकी तरह...

प्रकाश :

तदिच्छामात्रतः इति, तस्मादेव ब्रह्मभूताः नतु योगबलेन आविर्भूताः. अंशाः साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः. चेतनाः चित्प्रधानाः. सर्वे असंख्याताः. सृष्ट्यादौ प्रथमसृष्टौ. ततः साकाराः भगवद्रूपा अपि उच्चनीचभावेच्छया निर्गता इति निराकाराः जाताः. निर्गमने दृष्टान्तम् आह विस्फुलिङ्गा इव अग्नेः इति. “यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति” (बृह.उप.२।१।२०) इति श्रुतिः.

अनुवाद :

उसके बाद जो होता है वह अब निरूपित किया जाता है :

केवल उसकी इच्छाके कारण ही कहा, नकि योगबलसे, अतएव वे चेतनाएं ब्रह्मात्मिका आविर्भूत हुयी. आंशिकी कहनेका अभिप्राय उन्हें साकार एवं सूक्ष्म परिमाणवाली माननेमें है. चेतना अर्थात् चैतन्यकी उनमें प्रधानता जाननी चाहिये. सभी का अर्थ अपरिगणित होनेमें है. सृष्टिके आदिमें अर्थात् प्रथम सृष्टिमें. उसके बाद साकार भगवद्रूपा होनेपर भी उच्च-नीचके प्रभेदके साथ निकली अतः आकाररहित बन गयीं. बाहर निकलनेका उदाहरण दिखलाया जा रहा है अग्निमेंसे चिनगारीकी तरह. इस विषयमें “जैसे अग्निमेंसे क्षुद्र चिनगारी निकलती हैं” (बृह.उप.२।१।२०) यह श्रुति ही प्रमाण है.

सदंशरूप जड़के स्वरूपका प्रतिपादन :

कारिका :

(२२)सदंशेन जडा अपि ॥२८॥

भावानुवाद :

.....सदंशमेंसे जड़सृष्टि प्रकट हुयी ॥२८॥

प्रकाश :

एवं जीवोद्गमम् उक्त्वा जडोद्गमम् आह सदंशेन इति, सत्प्राधान्येन.

अनुवाद :

ऐसे जीवोंके उद्गमका प्रकार बताके अब जड़के उद्गमका प्रकार बता रहे हैं सदंशरूप अर्थात् सदंशकी प्रधानता रखके.

आनन्दांशरूप अन्तर्यामीके स्वरूपका प्रतिपादन :

कारिका :

(२३) आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ॥

भावानुवाद :

सच्चिदानन्दके आनन्दांशमेंसे सभीके अन्तर्यामी रूप

प्रकट हुवे ॥

प्रकाश :

अन्तर्याम्युद्गमम् आह आनन्दांशस्वरूपेण इति. यथा जीवानां नानात्वं तथा अन्तर्यामिणामपि. एकस्मिन् हृदये हंसरूपेण उभयप्रवेशात्. भेदस्तु जीवेऽपि नास्तीति न कापि अनुपपत्तिः.

अनुवाद :

अन्तर्यामीके उद्गमका प्रकार बताते हैं सच्चिदानन्दके आनन्दांशमेंसे इस अंशद्वारा. जैसे जीवात्माका नानात्व होता वैसे ही अन्तर्यामिओंका भी. एक ही हृदयमें दो हंसोंके रूपमें दोनों ही प्रवेश करते होनेसे. ब्रह्मके साथ तो जीवात्माओंका भी तात्त्विक विभेद नहीं तो आनन्दांशरूप अन्तर्यामिओंके ब्रह्मसे विभिन्न होनेकी कथा ही अप्रसक्त होनेसे कोई अनुपपत्तिकी बात नहीं है.

उक्त त्रैविध्यके प्राकट्यका प्रकार :

अवतरणिका :

त्रैविध्ये हेतुम् आह :

कारिका :

(२४) सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोः अन्यत्वीनता ॥२९॥

(२५) अतएव निराकारौ पूर्वी आनन्दलोपतः ॥

भावानुवाद :

सच्चिदानन्दरूप ब्रह्ममेंसे प्रकट होनेवाले त्रिविध अंशोंमें सदंशमें चिदानन्दांश और चिदंशमें आनन्दांश का लीन या तिरोहित हो जाता है; जबकि आनन्दांशमें केवल परिच्छिन्नता ही प्रकट होती है ॥२९॥

अतएव आनन्दके लोपके कारण सदंश और चिदंश आकाररहित हो जाते हैं ॥

प्रकाश :

सच्चिदानन्दरूपेषु इति, सति चिदानन्दधर्मयोः तिरोभावः. चिति आनन्दस्य. आनन्दांशतिरोभावस्यापि ज्ञापकमाह अतएव निराकारौ इति. भगवदाकारः चतुर्भुजत्वादिः 'आकार'शब्देन उच्यते. लोपः तिरोभावः.

अनुवाद :

उक्त त्रैविध्यके प्राकट्यकी हेतुभूता प्रक्रिया यों है :

सच्चिदानन्दरूप. सदंशमें चिदानन्दधर्मोंका तिरोभाव. चिदंशमें आनन्दका. आनन्दांशके तिरोहित होनेका ज्ञापक दिखलाते हैं अतएव सदंश और चिदंश आकाररहित हो जाते हैं. भगवान्के दिव्य चतुर्भुज होने जैसे आकार 'आकार'शब्दद्वारा विवक्षित हैं. लोप अर्थात् तिरोभाव.

अवतरणिका :

एवं स्वरूपे वैजात्यम् उक्त्वा नामतोऽपि वैजात्यम् आह :

कारिका :

(२६) जडो जीवो अन्तरात्मा इति व्यवहारस् त्रिधा मतः ॥३०॥

भावानुवाद :

इस सृष्टिलीलामें इन त्रिविध अंशोंमें जड़ जीव और अन्तरात्मा यों तरह तीन तरहका व्यवहार सम्भव हो पाता है ॥३०॥

प्रकाश :

जडः इति, सर्वस्यापि भगवत्त्वे 'जड'दिपदप्रयोगो व्यवहारः.

अनुवाद :

इनके स्वरूपोंमें विजातीयता जैसे आती है वैसे ही नाम भी अलग-अलग हो जाते हैं यह निरूपित कर रहे हैं :

जड़ कहनेका कारण यह है कि सभी कुछ भगवान् हों तो फिर 'जड़' आदि पदोंका प्रयोग केवल व्यवहार ही सिद्ध होता है.

सृष्टिमें चिदंशरूप जीवात्माके साथ संसारोत्पत्तिका प्रकार :

अवतरणिका :

एवं त्रैविध्यम् उपपाद्य चिदंशानां जीवानां संसारप्रकारम् आह :

कारिका :

(२७) विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते ॥

(२८) ते जीवस्यैव न अन्यस्य दुःखित्वं चापि अनीशता ॥३१॥

भावानुवाद :

श्रीहरिकी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा विनिर्मित विद्या और अविद्या श्रीहरिकी शक्ति हैं ॥

वे चिदंशरूपा जीवात्माओंके साथ ही जुड़ती हैं, सदंशरूप जड़ या आनन्दांशरूप अन्तर्यामी के साथ नहीं. अतएव जीवात्मा ही दुःखी और अनीश्वर बन जाती है ॥३१॥

प्रकाश :

विद्याऽविद्ये इति, मोक्षोऽपि एकः सर्गः इति विद्याया अपि निरूपणम्. आत्मनः स्वरूपलाभो विद्यया, देहलाभो अविद्यया इति. उभयोः जीवधर्मत्वं व्यावर्तयति हरेः शक्ती इति. तेन भगवदिच्छयैव तयोः आविर्भावतिरोभावयोः हेतुत्वम् इति उक्तम्. अनयोः मायाधीनत्वम् आह माययैव विनिर्मिते इति. तेन “मामेव ये प्रपद्यन्ते” (भग.गीता.७।१४) इति वाक्याद् भक्तौ सत्याम् अविद्यादि निवर्तते विद्यापि. अन्यथा नित्यमुक्तता न स्यात्. ते उभे जीवरूपस्यैव अंशस्य भवतो न अन्यस्य, जडांशस्य अन्तर्यामिणो वा, जीवस्यैव दुःखित्वम् अनीशत्वं च.

अनुवाद :

इस तरह त्रैविध्यका उपपादन चिदंशरूप जीवोंके होनेवाले संसारोत्पत्तिका प्रकार दिखलाया जा रहा है :

विद्या और अविद्या ये जो दो शक्तियां बतायी उस बारेमें यह ज्ञातव्य है कि मुक्तात्माओंकी सृष्टि भी आत्मना सृष्ट सर्गका ही प्रकार है अतः विद्याशक्तिका निरूपण किया गया है. जीवात्माओंको उनके स्वरूपमें अवस्थानका लाभ विद्याद्वारा होता है और देहलाभो अविद्याद्वारा. तब तो दोनोंका जीवधर्म होनेके रूपमें उल्लेख किया जाना चाहिये था! ऐसी आंशकाके व्यावर्तनके लिये विद्या और अविद्या को श्रीहरिकी शक्ति कहा. अतः भगवदिच्छा ही उनके आविर्भाव और तिरोभाव का हेतु बनती है. ये दोनों विद्या और अविद्या शक्तियां मायाके आधीन होती हैं यह निरूपण किया जा रहा है मायाद्वारा विनिर्मित हैं. अतएव भगवान् कहते हैं “जो मेरी शरणमें आते हैं वे ही मेरी मायाको तैर पाते हैं” (भग.गीता.७।१४). अतः भक्ति सिद्ध होनेपर ही अविद्या आदि निवृत्त होती हैं; और, विद्या भी. अन्यथा कुछ जीवोंका नित्यमुक्त होना उपपन्न नहीं हो पायेगा. ये विद्या और अविद्या चिदंशरूप जीवात्माओंके साथ ही जुड़ती हैं अन्योके साथ नहीं सदंशरूप जड़ या आनन्दांशरूप अन्तर्यामी के साथ नहीं. अतएव जीवात्मा ही दुःखी एवं अनीश्वर बन जाती है.

अवतरणिका :

अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि आह :

कारिका :

(२९) स्वरूपाज्ञानम् एकं हि पर्वं^{२-३-४} देहेन्द्रियासवः ॥

(३०) अन्तःकरणम् एषां हि चतुर्धा^५ अध्यास उच्यते ॥३२॥

(३१) पञ्चपर्वातु अविद्या इयं यद्बद्धो याति संसृतिम् ॥

भावानुवाद :

^१अविद्याका प्रथम पर्व अज्ञानात्मक स्वरूपाज्ञान और अन्यथाज्ञानात्मक ^२देहाध्यास ^३इन्द्रियाध्यास ^४प्राणाध्यास दूसरे तीसरे एवं चौथे पर्व होते हैं॥

^५अन्तःकरणाध्यास, यों कुल मिला कर चार तरहके अध्यास कहे जाते हैं॥३२॥

इस तरह अविद्याके इन पांचों पर्वोंमें बंधा हुआ जीव संसृति(संसार) से ग्रस्त हो जाता है॥

प्रकाश :

स्वरूपाज्ञानम् इति, अन्तःकरणाध्यासः प्राणाध्यास इन्द्रियाध्यासो देहाध्यासः स्वरूपविस्मरणं च इति पंच पर्वणि. यस्यां सम्पूर्णायां जातायाम् अन्यधर्मैः बद्धो जन्ममरणे प्राप्नोति इति अर्थः.

अनुवाद :

अविद्याके पांच पर्वोंका निरूपण किया जाता है :

स्वरूपाज्ञान आदि, अन्तःकरणाध्यास प्राणाध्यास देहाध्यास स्वरूपविस्मरण ऐसे अविद्याके पांच पर्व. ये संपूर्णरूपसे प्रकट होते हैं दूसरे भी अन्य धर्मसे बंधे जन्म - मरणके चक्रमें फंसे जाते हैं, ऐसा आशय जानना.

चिदंशरूप जीवात्माकी संसारनिवृत्तिका प्रकार :

अवतरणिका :

अविद्यां निरूप्य विद्यां निरूपयति :

कारिका :

(३२) विद्याया अविद्यानाशेतु जीवो मुक्तो भविष्यति॥३३॥

(३३) देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ताः भवन्ति हि॥

(३४) तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम्॥३४॥

भावानुवाद :

विद्याद्वारा अविद्याके नाश होनेपर जीव मुक्त हो जाता है॥३३॥

अविद्याके नष्ट होनेपर देह इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण नष्ट नहीं होते परन्तु जीवचेतनामें इनके बारेमें अध्यास निवृत्त हो जाता है॥

निरध्यस्त देह आदिका, फिरभी, लय नहीं होता क्योंकि जीवन्मुक्त आत्माओंके साथ ये स्फुटतया जुड़े हुवे तो दिखलायी देते ही हैं॥३४॥

प्रकाश :

विद्याया इति, निद्रावद् अविद्यापगमे न जीवस्य जन्ममरणे. तदा तस्मिन् जन्मनि गृहीतानां देहादीनां विलयाभावम् आह देहेन्द्रियासवः इति. अध्यासएव गच्छति, न स्वरूपम्. प्रपञ्चमध्यपातात्. अध्यासाभावे स्थितिः न स्याद् इति आशंक्य आह तथापि न प्रलीयन्ते इति, स्वबुद्ध्या लीनवत् प्रतिभानेऽपि न सर्वेषां बुद्ध्या तथा प्रतिभानम्.

अनुवाद :

अविद्याके निरूपणके बाद अब विद्याका निरूपण किया जा रहा है :

विद्या द्वारा ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि अविद्याके निद्राकी तरह अपगम होनेपर जीवको जन्म-मरणके चक्रका अनुभव नहीं होता. अविद्याके निवृत्त होनेपर भी उस जन्ममें जो देह आदि मिले होते हैं उनका विलय नहीं हो जाता ऐसा देह इन्द्रिय प्राण और अन्तःकरण इस अंशसे प्रतिपादित होता है. इन देह आदिके साथ जुड़ा अध्यास ही केवल निवृत्त होता है, नकि स्वरूपतः देह आदि, देहादि स्वरूपतः तो बाह्य प्रपञ्चके पदार्थ होते हैं अध्यासकल्पित आन्तरिक पदार्थ नहीं. जीवचेतनाके साथ अध्याससे रहित होनेपर ये

टिक नहीं पायेंगे इस आशंकाके निवारणार्थ कहते हैं निरध्यस्त देह आदिका, फिरभी, लय नहीं होता. विद्यावान् पुरुषकी बुद्धिमें देह आदिका मानों लय हो गया हो ऐसा भान होता होनेपर भी अन्य सभीकी बुद्धिमें तो देह आदि अलीनतया ही प्रतिभान होता है.

अवतरणिका :

* ननु जीवब्रह्मणोः ऐक्यान्यथानुपपत्त्या “तत् त्वम् असि” (छान्दो.उप.- ६।७।७) इत्यादिवाक्यानुरोधेन बिम्बप्रतिबिम्बयोः ऐक्यं युक्तम् इति तथात्वं कल्प्यते! * इति आशंकां तिरस्कुर्वन् “तत् त्वम् असि” इति वाक्यं न महावाक्यम् इति आह :

कारिका :

(३४) “तत् त्वम् असि” आदिवाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः ॥

(३५) न विद्याजनने शक्तिर् अन्यार्थं तच्च कीर्तितम् ॥६१॥

भावानुवाद :

“वह तुम हो” आदि वचनोंका कितना भी युक्तिपूर्वक मनन किया जाये ॥

केवल वचनके बलपर विद्या प्रकट हो नहीं सकती क्योंकि यह वचन किसी अन्य प्रयोजनके वश ही है ॥६१॥

प्रकाश :

तत् त्वम् असि इति, इदं वाक्यं श्वेतकेतूपाख्यानं वर्तते. तत्र उपक्रमे “अपि वा तम् आदेशम् अप्राक्षो येन अश्रुतं श्रुतं भवति” (छान्दो.उप.६।१।२-३) इत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्. तद् एकमेव चेत् सर्वं तदा उपपद्यते. यथा सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यं च सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञाने तज्ज्ञानं भवति. तदर्थं “सदेव, सौम्य!,...” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यारभ्य निरूपितम् “एतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.६।७।७) इति जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वम् उक्तं, जडगतदोषाः

च तत्र परिहृताः “तत् सत्यम्” इति. पूर्वोत्तरयोः जडजीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुम् आह “स आत्मा” इति. एवं जडस्य तदात्मकत्वम् उक्त्वा जीवस्यापि आह “तत् त्वम् असि” इति. उपदेशश्च अयम्, “आवृत्तिर् असकृद् उपदेशाद्” (ब्र.सू.४।१।१) इति ब्रह्मसूत्रात्. अतः सम्पूर्णं महावाक्यम् उपदेशः. तत्र यथा “एतदात्म्यम्” इत्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे तथा उत्तरत्रापि चिदंशे अवगन्तव्यम्. नापि श्वेतकेतुः अवतारः, पूर्वं स्तब्धत्वादिदोषकीर्तनात्, विरोधात् च. अतो ब्रह्मवाक्यत्वात् तदेकदेशः तत् त्वम् असि इति जीवब्रह्मणोः ऐक्यं न बोधयति. वाक्यभेदप्रसंगाद् उपक्रमविरोधात् च. केचिद् अष्टपदानि महावाक्यम् इति आहुः तदपि तथा. “अतत्त्वम् असि” इति छेदस्तु न वैदिकानां सम्मतः. अतो न अस्य विद्याजनने शक्तिः, अन्यार्थकीर्तनात्.

अनुवाद :

* यहां एक शंका होती है कि जीव और ब्रह्म के बीच एकता स्वीकारे बिना अन्य कोई गति न होनेसे “वह तुम हो” (छान्दो.उप.६।७।७) इस तरहके श्रुतिवचनोंके अनुरोधवश जीव-ब्रह्मके बीच बिम्ब-प्रतिबिम्बके जैसा संबन्ध मान कर दोनोंका एक ही होना युक्त लगता है! * इसके निवारणार्थ “वह तुम हो” इस वाक्यको महावाक्य नहीं माना जा सकता, यह कहते हैं :

वह तुम हो यह वचन श्वेतकेतुके उपाख्यानमें मिलता है. यहां उपक्रममें यह प्रश्न उपस्थापित किया गया है कि “क्या ऐसा कोई उपदेश पूछ-सुन पाये हो कि जिसके कारण अनसुनी बात भी सुनी बन जाये” (छान्दो.उप.६।१।२-३) इत्यादि प्रतिपादनद्वारा एकके विज्ञानके कारण सर्वविज्ञान शक्य माना गया है. वह तो एक ही कोई तत्त्व सब कुछ बना हो तभी सम्भव है. जैसे सुवर्णके अनगढ़ खण्ड और सुवर्णके गढ़े गये आभरणरूप कार्य सभी कुछ सुवर्ण रूप ही होते हैं अतः सुवर्णको जान लेनेपर उन्हें भी जाना जा सकता है. एतदर्थ “यह पहले भी सत् ही था...” (छान्दो.उप.६।२।१)

ऐसा पहले कह कर बादमें “यह सब कुछ एतदात्मक है” (छान्दो.उप.६।७।७) ऐसा कह कर समग्र जड़ पदार्थोंका तदात्मक होना कहा गया, एतावता जड़ पदार्थगत दोषोंका भी परिहार ध्वनित हुवा “यह सत्य होता है” ऐसा कह कर. पूर्वोत्तर जड़जीवको सदात्मक होनेके निरूपणमें मध्यमें हेतु भी कहा “क्योंकि सभीके भीतर आत्मा तो वही है” इस वचनांशमें. यों जड़ पदार्थोंके तदात्मक होनेके विधानके बाद जीवके भी बारेमें वही विधान करनेको “वह तुम हो” कहा जा रहा है. यह तो उपदेश है इसकी तो “आवृत्ति अनेक बार उपदेश दिया गया होनेसे” (ब्र.सू.४।१।१) करनी श्रुतिको अभिप्रेत है ऐसा ब्रह्मसूत्रमें कहा गया होनेसे. अतः सम्पूर्ण महावाक्यको उपदेश मानना चाहिये बजाय कि केवल “वह तुम हो” इतने से वाक्यांशके. यहां जैसे “एतदात्मक...” शब्दप्रयोगमें जैसे सदंशके बारेमें भागत्यागलक्षणाकी प्रक्रिया नहीं स्वीकारी गयी उसी तरह चिदंशके बारेमें भी मानना चाहिये. श्वेतकेतु कोई भगवान्का अवतार तो नहीं था कि उसे “वह तुम हो” कहना संगत माना जा सकता है, आरंभमें गर्व आदि दोषोंके निरूपण करनेके कारण और पूर्वापरसंगतिसे भी विरुद्ध होनेके कारण. अतः प्रस्तुत विधान ब्रह्मका प्रतिपादक वाक्य होनेसे ब्रह्मके एकदेशरूप जीवके बारेमें वह तुम हो ऐसे अभिप्रायवश कहा गया है नकि जीव-ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादनार्थ, क्योंकि एकताके प्रतिपादनार्थ माननेपर प्रस्तुत वाक्यकी आन्तरिक एकता खण्डित होगी और उपक्रान्त प्रतिपादनसे भी विरुद्ध जानेवाली बात होगी. कुछ लोग महावाक्यको आठ पदोंसे घटित मानते हैं वह भी अनुचित ही है. प्रस्तुत वाक्यमें “वह तुम नहीं हो” इस तरहका संधिविच्छेद तो वैदिकोंके पदपाठसे विसंवादपूर्ण होनेसे मान्य नहीं. अतः इस वचनमें विद्याको प्रकट करनेकी शक्ति मानी नहीं जा सकती, अन्यार्थक होनेके कारण ही.

अवतरणिका :

तदेव आह :

कारिका :

(३६) ब्रह्मणः सर्वरूपत्वम् अवयुज्य निरूपितम् ॥

(३७) अलौकिकं तत् प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते ॥६२॥

भावानुवाद :

ब्रह्म सर्वरूप है परन्तु उसकी सर्वरूपताको खण्डित करके केवल जीवरूपता दर्सायी जा रही है ॥

ब्रह्म कोइ लौकिक प्रमेय तो नहीं जिसका स्वरूप लौकिकयुक्तिके बलपर निर्धारित किया जा सके ॥६२॥

प्रकाश :

ब्रह्मणः सर्वरूपत्वम् इति, अवयुज्य जडजीवौ पृथक्कृत्य. “सर्वं ब्रह्म” इति वक्तुं जीवस्य ब्रह्मता निरूपिता. * ननु अस्तु वाक्यभेदः! तथा सति एतावन्मात्रं जीवस्य ब्रह्मतां बोधयति. तच्च साक्षाद् अनुपपन्नं सद् भागत्यागलक्षणया अखण्डमेव वाक्यार्थं बोधयति * इति चेत्, साधु बुद्धिमतां बकबन्धप्रयासो वृत्तः. उपदेशफलम् आयुष्मतां किं वृत्तम् इति अनुसन्धेयम्. ब्रह्मभावेन अधिकधर्माभावाद्, देहादिभेदबोधनेनापि दोषनिराकरणसम्भवात् च. ततो व्यर्थः प्रकरणभेदमपि अंगीकृत्य महावाक्यत्वेन उपदेशप्रयासः. तर्हि श्रुतिः कथम् उपदिशति इति चेत् तत्र आह अलौकिकं तत् प्रमेयम् इति, लौकिकं हि लोकयुक्त्या अवगम्यते ब्रह्म तु वैदिकम्. वेदप्रतिपादितार्थबोधो न शब्दसाधारणविद्यया भवति.

अनुवाद :

इसीका निरूपण करते हैं :

ब्रह्म सर्वरूप है इत्यादि. खण्डित करके अर्थात् जड़ और जीव के विभाजनद्वारा. वस्तुतः तो “सभी कुछ ब्रह्म है” यह कहनेको जीवका ब्रह्मरूप होना निरूपित किया गया है. * शंका उठायी जा सकती है कि वाक्यभेद यदि हो भी जाये तो आपत्ति क्या! तब तो केवल जीव ही ब्रह्मरूप सिद्ध होगा. जीवका यह ब्रह्मरूप होना

साक्षात् तो उपपन्न होगा नहीं और तब भागत्यागलक्षणाद्वारा ही वाक्यको अखण्डैक्यप्रतिपादक मानना पड़ेगा * यह शंका किन्तु उचित नहीं, क्योंकि इतने लंबे-चौड़े चक्करके बाद भी ऐसे उपदेशका फल क्या यह तो दिखलाना ही पड़ेगा. जीवका ब्रह्म होना दिखलानेपर भी ऐसा जीवको ऐसा कौनसा अनवगत रहस्य यहां अधिक उपदिष्ट हुवा जो जीव स्वयं अपने बारेमें पहलेसे जानता न हो! यदि कहा जाये कि अध्यस्त देह आदिसे अतिरिक्त होनेका बोध जीवको दिया गया है तो क्या एतावता दैहिक दोषोंसे जीवको छुटकारा मिल जायेगा?. अतः यह तो व्यर्थ ही प्रकरणभेदके दोषको अपना कर “वह तुम हो” इतनेसे वाक्यांशको महावाक्य बना कर उपदेश देनेका प्रयास है. पूछा जा सकती है कि तब स्वयं श्रुतिने ऐसे वचन क्यों कहे? उसका खुलासा यह है कि वह ब्रह्म तो अलौकिक प्रमेय इत्यादि, अर्थात् किसी लौकिक पदार्थका लोकयुक्तिके आधारपर निर्णय करना ठीक हो सकता है परन्तु लोकानवगत ब्रह्म तो वैदिक प्रमेय ही है. वेदमें प्रतिपादित अर्थका बोध लौकिक शब्दोंकी तरह वैदिक शब्दोंको भी मान कर साधारण विद्याद्वारा शक्य नहीं.

अवतरणिका :

किन्तु अन्यत् साधनम् अस्ति इति आह :

कारिका :

(३८) तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः ॥

(३९) विद्यां प्राप्नोति उरुक्लेशः क्वचित् सत्ययुगे पुमान् ॥६३॥

भावानुवाद :

^१ तपद्वारा, ^२ वेदवचनानुसारिणी युक्तिद्वारा, ^३ परमात्माके प्रसादके वश ॥

अनेकविध आनुष्ठानिक क्लेशोंके साथ व्यक्ति * सत्-युगमें

* कहीं विद्यालाभ कर पाता था ॥६३॥

प्रकाश :

तपसा इति, तपः पूर्वाङ्गम्. वेदयुक्तिः सहकारिणी. भगवत्प्रसादो मुख्यं कारणम्. क्वचिद् देशविशेषे. सत्ययुगे काले. पञ्चाङ्गसम्पत्तौ वाक्यार्थबोधो भवति अन्यथा “कं ब्रह्म खं ब्रह्म” (छान्दो.उप.४।१०।४) इति उपाख्यानं कथम् उपदेशमात्रेणैव बोधः. कथम् इदानीन्तनानां न बोधः ?

अनुवाद :

साधन, किन्तु, अन्य ही कुछ होता है यह अब कहना है :

^१ तपद्वारा जो कहा वह विद्यालाभमें तपके प्रथम अङ्ग होनेके कारण कहा गया है. ^२ वेदवचनोंके अनुसार सोची गयी युक्ति या उपपत्ति सहकारिणी बनती थी. ^३ भगवान्का प्रसाद या अनुग्रह तो प्रमुख कारण होता ही है. ^४ कहीं अर्थात् सर्वत्र नहीं प्रत्युत पुण्यक्षेत्रमें कहीं. “सत्-युगमें कहनेका कारण विद्यालाभानुकूल कालमें. यों इन पांच अङ्गोंके सम्पन्न होनेपर श्रुतिवाक्योंके वास्तविक अभिप्रेत अर्थका बोध हो पाता था. अन्यथा “क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है” (छान्दो.उप.४।१०।४) इस वचनमें वर्णित उपाख्यानमें केवल उपदेशमात्रके आधारपर ब्रह्मबोध जो निरूपित हुवा उसकी उपपत्ति मिल नहीं पाती. क्योंकि केवल वाक्यार्थका संदेहरहित परिज्ञान आधुनिकों भी होता ही है परन्तु एतावता ब्रह्मका प्रतिभान तो हो नहीं जाता !

अवतरणिका :

इदानीन्तनानामपि बोधः इति चेत्, तत्र आह :

कारिका :

(४०) सर्वज्ञत्वं च तस्य इष्टं लिंगं तेजोऽपि अलौकिकम्॥

(४१) तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिर् जाग्रत्स्वप्नवद् उद्भवः॥

(४२) अविद्या-विद्ययोस् तस्माद् भजनं सर्वथा मतम्॥६४॥

भावानुवाद :

यदि कोई ब्रह्मज्ञानी हो पाया हो तो उसकी वास्तविकताकी पहचान, वह सर्वज्ञ है या नहीं?, इस निकषपर संभव है. ऐसे ब्रह्मज्ञानीके मुखका आभामण्डल भी अलौकिक ही झलकता होना चाहिये॥

उसके प्राप्त हो जानेपर भी कभी मुक्तिलाभ नियत नहीं माना जा सकता. क्योंकि अविद्याका उपमर्दन जैसे विद्याद्वारा होता है वैसे ही विद्याका भी उपमर्दन अविद्याद्वारा शक्य होता है, स्वप्न और जागरण के चक्रकी तरह परस्पर उपमर्दनकी तरह॥

अतः अविद्या या विद्या दोनोंमेंसे किसीसे भी सम्पन्न अधिकारीके लिये भगवद्-भजन तो श्रेयान् होता है॥६४॥

प्रकाश :

सर्वज्ञत्वञ्च इति, स्वार्थं सर्वज्ञत्वं लिंगम्. परार्थम् अलौकिकं तेजः इति. *ननु तथापि वाक्यार्थज्ञानएव ईश्वरप्रसादादेः भक्तेः च उपयोगः उक्तः * इति चेत्, तत्र आह तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिः इति, उपनिषद्भिः महावाक्यार्थविद्याप्राप्तावपि ब्रह्मभावः सायुज्यं वा न तस्य. दृष्टान्तेन तथाभावस्य कालपरिच्छेदात्. यथा जागरणस्वप्नौ परस्पर उपमर्दनेन आविर्भवतः तिरोभवतः च, तथैव विद्याऽविद्ये. अतो विद्योपमर्दनेन अविद्या पुनः आविर्भवति इति व्यर्थ एव प्रयासः. तस्मात् स्वतन्त्र भक्त्यर्थं सायुज्यार्थं च सर्वथा भजनं मतम्.

अनुवाद :

यदि कोई आधुनिकोंके उदाहरणमें भी उसे संभव मानता हो तो कहते हैं :

सर्वज्ञ होना स्वयं उसे अपनी ब्रह्मज्ञताकी वास्तविकताकी पहचाननेका निकष होता है. पराये लोगोंके लिये अलौकिक तेजस्विता निकष

बनती है. *एक शंका यह उठ सकती है कि परमेश्वरके प्रसाद आदि अथवा भक्ति की भी वाक्यार्थबोधको प्रकट करनेमें साधनता या उपयोग मानना चाहिये* इसके समाधानतया कहते हैं उसके प्राप्त हो जानेपर भी मुक्तिलाभ हो नहीं पाता इसका आशय यों है : उपनिषदोंके महावाक्यार्थकी विद्या प्राप्त हो जानेपर भी ब्रह्मभाव अथवा सायुज्य लाभ नियत नहीं. दृष्टान्तके आधारपर भी ब्रह्मविद्यासे सम्पन्न होना कालविशेषमें घटित घटना होनेके कारण जैसे जागरण और स्वप्न एकदूजेके उपमर्दक बन कर आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं वैसे विद्या और अविद्या के भी चक्रमेंसे बाहिर निकल पाना अशक्य नहीं. अतः विद्याके उपमर्दनद्वारा अविद्याके पुनः आविर्भूत होनेके भयकी संभावनाके रहते व्यर्थ ही यह प्रयास लगता है. अतः स्वतन्त्रभक्ति या सायुज्य के लिये भजनमें प्रवृत्त होना सर्वथा उचित होता है.

ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन :

अवतरणिका :

एवं जीवप्रकरणं समाप्य ब्रह्मप्रकरणम् आह :

कारिका :

(४३) सच्चिदानन्दरूपन्तु ब्रह्म व्यापकम् अव्ययम् ॥

(४४) सर्वशक्ति स्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम् ॥६५॥

भावानुवाद :

ब्रह्म तो सच्चिदानन्दरूप व्यापक अव्यय ॥

सभी तरहकी शक्तिओंसे परिपूर्ण स्वतन्त्र सर्वज्ञ और

गुणों आदिसे वर्जित भी होता है ॥६५॥

प्रकाश :

सच्चिदानन्दरूपम् इति, 'ब्रह्म' इति धर्मनिर्देशः परब्रह्मवाचकः. 'ब्रह्म' पदार्थम् आह व्यापकम् इति गुणोपसंहारन्यायेन. "अविनाशी वा

अरे अयम् आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा" (बृह.उप.४।५।१४) इति श्रुतेः तद् अव्ययम्. "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" () इति श्रुतेः सर्वशक्तिः. निर्धर्मकत्वे सर्वेषाम् अनुपास्यो अप्राप्यो अफलः च स्याद् अतएव स्वतन्त्रो योहि निरवधि-ज्ञानक्रिया-शक्तियुक्तः स स्वतन्त्रो भवति. चकारात्, "सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशान" (बृह.उप.४।४।२२) इति श्रुतेः सर्वं वशे समानयति. गुणवर्जितं प्राकृतगुणरहितम्. एवं षड्धर्मा निरूपिताः.

अनुवाद :

इस तरह जीवप्रकरणकी समाप्तिके बाद अब ब्रह्मप्रकरणका निरूपण करना है :

सच्चिदानन्दरूप इत्यादि. 'ब्रह्म' यह पद परब्रह्मका वाचक तथा धर्मीका निर्देश करनेवाला पद है. 'ब्रह्म' पदका अर्थ दिखलाते हैं व्यापक अर्थात् सभी तरहके गुणोंका उपसंहार उसमें किया जा सकता है. "अरे इसका कभी उच्छेद नहीं होता यह तो अविनाशी आत्मा" (बृह.उप.४।५।१४) इस श्रुतिके अनुसार वह अव्यय है. "जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है" () इस श्रुतिके आधारपर वह सभी तरहकी शक्तिओंसे परिपूर्ण होता है. क्योंकि यदि वह सर्वथा निर्धर्मक होता तो किसीके भी लिये उपास्य नहीं पाता प्रत्युत उसकी उपासना करनी भी निष्फल ही सिद्ध होती. अतएव उसे स्वतन्त्र भी मानना ही पड़ता है. जो अपार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से भरा हुवा हो वह स्वतन्त्र होता है. आदि पदद्वारा "वह सबको अपने वशमें रखनेवाला सभीका ईश्वर भी होता है" (बृह.उप.४।४।२२) इस श्रुतिके आधारपर सभीको अपने वशमें रखता है. गुणवर्जित अर्थात् प्राकृतगुणोंसे रहित होता है. इस तरह उसके छह धर्मोंका निरूपण पूर्ण हुवा.

अवतरणिका :

तत्र व्यापकत्वं नाम देशाद्यपरिच्छिन्नत्वम्. तद् वस्तुपरिच्छिदे न उपपद्यते इति त्रितयपरिच्छेदाभावाय आह :

कारिका :

(४५) सजातीय-विजातीय-स्वगत-द्वैतवर्जितम् ॥

भावानुवाद :

वह ब्रह्म सजातीय द्वैत, विजातीय द्वैत और स्वगत द्वैत से वर्जित होता है ॥

प्रकाश :

सजातीय इति, सजातीयाः जीवाः, विजातीयाः जडाः, स्वगताः अन्तर्यामिणः, त्रिष्वपि भगवान् अनुस्यूतः त्रिरूपः च भवतीति तैः निरूपितं द्वैतं भेदः तद्वर्जितम्. अत्र बुद्धिः अवतारेष्विव कर्तव्या.

अनुवाद :

यहां व्यापक होनेकी बात देशतः कालतः और वस्तुस्वरूपतः अपरिच्छिन्न होनेके आशयसे कही गयी है. वह स्वयं वस्तुके परिच्छिन्न होनेपर तो उपपन्न हो नहीं पायेगी अतः उसे वस्तुस्वरूपके तीनों तरहके द्वैत या परिच्छेदसे वर्जित कहना आवश्यक है :

सजातीय इत्यादि. जीव सभी ब्रह्मके सजातीय होते हैं. सभी जड़ वस्तु ब्रह्मकी विजातीय होती हैं. सभी व्यष्टि अन्तर्यामी ब्रह्मके स्वगत द्वैत के उदाहरण होते हैं. इन अपने स्वयंके तीनों रूपोंमें भगवान् अनुस्यूत और त्रिरूप होते होनेके कारण इन तीनोंके साथ द्वैत अर्थात् भेदसे भगवान् वर्जित हैं. जैसे भगवान्के अवतारोंमें हमें भगवद्बुद्धि रखनी आवश्यक होती है वैसे ही इन तीनों रूपोंमें भी.

अवतरणिका :

एवं भगवत्त्वम् उपपाद्य तन्त्रोक्तान् गुणान् आह :

कारिका :

(४६) सत्यादिगुणसाहस्रैः युक्तम् औत्पत्तिकैः सदा ॥६६॥

भावानुवाद :

सत्य आदि सहस्रों स्वाभाविक गुणोंसे भगवान् सदा युक्त रहते हैं ॥६६॥

प्रकाश :

सत्यादिगुणसाहस्रैः इति. “सत्यं शौचं दया क्षान्तिः” इत्यादिश्लोके सत्यादयो गुणाः निरूपिताः. ते च औत्पत्तिकाः. सदा सृष्टिप्रलयादावपि.

अनुवाद :

इस तरह सभी कुछ भगवद्रूप है यह उपपादन करके वैष्णव तन्त्रोंमें प्रतिपादित भगवान्के गुणोंका भी निरूपण अब करते हैं :

सत्य आदि सहस्रों इत्यादि. “सत्यं शौचं दया क्षान्तिः” इत्यादि श्लोकमें जो सत्य आदि गुण निरूपित हुवे हैं. ये सारे गुण भगवान्में स्वाभाविक होते हैं. सदा अर्थात् सृष्टिकालकी तरह प्रलयकालमें भी.

अवतरणिका :

पुनः श्रुत्युक्तान् गुणान् उपसंहरति पूर्वोक्तानां वैदिकत्वाय :

कारिका :

(४७) सर्वाधारं वश्यमायम् आनन्दाकारम् उत्तमम् ॥

(४८) प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद् विलक्षणम् ॥६७॥

भावानुवाद :

ब्रह्म नाम-रूप-कर्मात्मक वस्तुमात्रका आधार होता है, माया उसके आधीन रहती है, वह आनन्दाकार और उत्तम होता है ॥

साथ ही साथ प्रापञ्चिक सारे पदार्थोंसे वह विलक्षण भी होता है ॥६७॥

प्रकाश :

सर्वाधारम् इति, “सेतुः विधरणम्” (द्रष्ट.छान्दो.उप.८।४।१) इति श्रुतेः. गीतायां मायासम्बन्धस्य उक्तत्वाद् मायाधीनो भवेद् इति आशङ्क्य आह वश्यमायम् इति. साकारताम् आह आनन्दाकारम् इति. उत्तमम्, अक्षरादपि. यद्यपि कारणधर्माएव कार्ये भवन्ति, तथापि कार्यगतत्वेन अन्यथा प्रतीतिः तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह प्रापञ्चिकपदार्थानाम् इति.

अनुवाद :

पुनः श्रुतिप्रतिपादित गुणोंको ब्रह्ममें उपसंहृत करते हैं ताकि पूर्वोक्त गुणोंका भी वैदिक होना सिद्ध हो जाये :

ब्रह्म.... वस्तुमात्रका आधार होता है यह “सेतुः विधरणम्” (द्रष्ट.छान्दो.उप.८।४।१) इस श्रुतिके बलपर समझा जा सकता है. गीतामें भगवान्का मायाके साथ सम्बन्ध दिखलाया गया होनेके कारण भगवान्को मायाधीन कोई न मान ले एतदर्थ कहते हैं माया उसके आधीन रहती है. ब्रह्म साकार भी होता है यह समझानेको कहते हैं वह आनन्दाकार होता है. उत्तम अर्थात् अक्षरब्रह्मसे भी. यद्यपि कारणके ही धर्म कार्यमें अनुगत रहते हैं फिरभी कार्यगत होनेके कारण उन्हीं धर्मोंकी प्रतीति अन्यथा होने लगती है वैसे अन्यथाप्रतीति अवभासित गुणोंके निषेधार्थ कहते हैं प्रापञ्चिक सारे पदार्थोंसे... इत्यादि.

अवतरणिका :

एवं स्वरूपात्मकधर्मान् उक्त्वा कार्यम् आह :

कारिका :

(४९) जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्॥

(५०) कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित् सुखम्॥६८॥

भावानुवाद :

वह ब्रह्म जगत्का समवायी कारण भी होता है

और वही बनता निमित्त आदि कारण भी॥

कभी वह सुखेन अपने-आपमें रमण करता है तो कभी प्रपञ्चमें भी॥६८॥

प्रकाश :

जगतः समवायि स्याद् इति, सर्वस्यापि जगतः कार्यरूपस्य च ब्रह्मैव समवायिकारणम्. एतस्मिन्नेव ओतप्रोतं गार्गीब्राह्मणे प्रसिद्धम्. तदेव निमित्तकारणम्. चकारात् कर्तुं च. तस्य प्रपञ्चनिर्माणे हेतुम् आह कदाचिद् रमते इति, यदा स्वस्मिन् रमते तदा प्रपञ्चम् उपसंहरति. यदा प्रपञ्चे रमते तदा प्रपञ्चं विस्तारयति. प्रपञ्चभावो भगवत्येव लीनः प्रकटीभवति इति अर्थः.

अनुवाद :

इस तरह स्वरूपात्मक धर्मोंके निरूपणके बाद अब कार्यरूप धर्मोंका प्रतिपादन अभिलषित है :

वह ब्रह्म जगत्का समवायी कारण होता है इत्यादि. सारे ही जगत्का जो कार्यात्मना प्रकट हुवा है उसका ब्रह्म ही समवायी कारण होता है. अतएव वह इस जगत्में ओतप्रोत रहता है ऐसा गार्गीब्राह्मणमें प्रसिद्ध है. वही निमित्त कारण भी होता है. आदि पदका प्रयोगके कारण उसे जगत्का कर्ता भी उसे जानना चाहिये. वह प्रपञ्चका निर्माण क्यों करता है उसका हेतु जतानेको कहते हैं कभी... रमण करता है. जब वह अपने-आपमें रमण करना चाहता है तब प्रपञ्चका उपसंहार कर देता है. जब प्रपञ्चमें रमण करना चाहता है तब वह प्रपञ्चका नाम-रूप-कर्मात्मना अपने-आपमें विस्तार करता है. प्रपञ्च अपनी समग्रतामें भगवान्के भीतर लीन रहता है और प्रकट भी होता रहता है यह अभिप्राय है.

अवतरणिका :

कार्यादिभावः कश्चिद् अन्यः इति आशङ्क्य ब्रह्मस्वरूपम् आह :

कारिका :

(५१) यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा ॥

(५२) स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः ॥६९॥

भावानुवाद :

जहां, जिसके द्वारा, जिससे, जिसका, जिस किसी प्रयोजनके वश, जिसे, जो कुछ, जैसे, जब होता है ॥

वह प्रकृति हो या पुरुष हो परमेश्वर हो जो है वह सभी कुछ स्वयं भगवान् ही साक्षात् बनते हैं ॥६९॥

प्रकाश :

यत्र येन इति, सर्वविभक्तीनां प्रकारस्य च भगवानेव अर्थः.
प्रकृतिपुरुषौ कालः च स एव.

अनुवाद :

कार्य आदि स्वरूप किसी अन्य प्रकारके होते होंगे ऐसी आशंकाके निवारणार्थ ब्रह्मका स्वरूप कहते हैं :

जहां, जिसके द्वारा इत्यादि. विभक्तिओंके सभी प्रकारके अर्थ स्वयं भगवान् ही बनते हैं. प्रकृति पुरुष और काल भी वे स्वयं ही बनते हैं.

अवतरणिका :

एवं पूर्वस्थितिम् उक्त्वा पश्चात् स्थितिम् आह :

कारिका :

(५३) यः सर्वत्रैव संतिष्ठन् अन्तरः संस्पृशेद् न तत् ॥

(५४) शरीरं तं न वेद इत्थं यो अनुविश्य प्रकाशते ॥

(५५) सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत् ॥७०॥

भावानुवाद :

जो सर्वत्र ही सभीके भीतर और बाहर अवस्थित रहनेपर भी किसी वस्तुका स्पर्श नहीं करता ॥

इस तरह शरीर स्वयं उसका अपने भीतर अवस्थित होना जान नहीं पाता है जो शरीरके भीतर अनुप्रविष्ट हो कर प्रकाशित होता रहता है ॥

किसी भी वादकी चौखटके भीतर उसका चित्र समाता नहीं है और जितने भी वादोंकी चौखटमें जो भी चित्र जड़े जाते हैं वे चित्र उसी ब्रह्मके चित्र हैं ॥७०॥

प्रकाश :

यः सर्वत्रैव इति, सर्वेष्वेव पदार्थेषु कार्येषु स्वयं तिष्ठन् तानि अन्तरयति स्वमध्ये स्थापयति इति अर्थः. तथा स्वयम् आधाराधेयभावं प्राप्नुवन्नपि तन्न स्पृशति. तर्हि अज्ञानेन तथा भवतीति चेत्, न इति आह शरीरम् इति, तत् सर्वमेव शरीरत्वेन मन्यते. तस्य च ज्ञापकं भवति सर्वं, तथापि न स्पृशति. तर्हि शरीरमेव भगवन्तम् आनन्दनिधित्वात् स्पृशेद् इति चेत् तत्र आह शरीरं कर्तुं न ब्रह्म वेद इति. इत्थम् अमुना प्रकारेण यो अनुविश्य प्रकाशते. “यः पृथिव्यां तिष्ठन्” (बृह.उप.३।७।३) इत्यादिश्रुतेः. श्रुत्यादिभेदेषु नानाप्रकारेण प्रतिपादितत्वाद् अन्योन्यविरोधाद् न किञ्चित् प्रमाणं ब्रह्मणि भविष्यति इति आशंक्य आह सर्ववादानवसरम् इति, वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता. सर्वभवनसामर्थ्येन, विरुद्धधर्माश्रयत्वात्. नैवंवादिनां वाक्यानि तत्तदंशवाक्यपराणि भवितुम् अर्हन्ति तेषां तथाहृदयाभावात्. अतः सर्वे वादाः स्वभ्रान्तिपरिकल्पितत्वेन वस्तुस्पर्शाभावाद् अनवसरपराहताएव. अस्तु वादिनां हृदयं यथा तथा, वाक्यानां सरस्वतीरूपत्वात् कथं न एकवाक्यता इति आशंक्य आह नानावादानुरोधि तद् इति. एकैको वादो ब्रह्मणः एकैकधर्मप्रतिपादकैकैकवाक्यशेषइति भगवान् तान् सर्वानेव अनुसरति.

अनुवाद :

इस तरह सृष्टिसे पूर्वकालिक स्थितिके निरूपणके बाद अब सृष्टिके

प्रकट होनेके बादवाली स्थितिका निरूपण करना है :

जो सर्वत्र ही इत्यादि. सभी पदार्थों या कार्यों के भीतर अवस्थित रह कर ब्रह्म उन्हें अपने भीतर भी समाये रखता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये. इसी तरह सभीका आधार भी और आधेय भी बन कर भी स्वयं सभीसे अलूता भी रहता है. * तब तो लगता है कि वह अज्ञानवश ही सभीके भीतर-बाहर होगा ! इ* ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहते हैं शरीरके भीतर इत्यादि. उसके लिये वस्तुमात्र उसके शरीरकी तरह होती हैं क्योंकि सभी शरीर उसकी ही गवाही दे रहे हैं. फिरभी सभीसे अलूता ही रहता है. तो * भगवान् के आनन्दनिधि होनेके शरीर तो उन्हें छू पाता होना चाहिये ! *, इसके समाधानार्थ कहते हैं शरीर ब्रह्मको जान पानेकी क्रियाका कर्ता बन जान नहीं पाता. इस तरह इस प्रकारसे अपने भीतर जो अनुप्रविष्ट हो कर प्रकाशित होता है, इसका निरूपण “जो पृथिवीके भीतर रह कर” (बृह.उप.३।७।३) इत्यादि श्रुतिमें हुवा है. * विभिन्न श्रुतिओंके वचनोंमें नाना प्रकारसे प्रतिपादन मिलता होनेसे अन्योन्यविरुद्ध वचनोंमें ब्रह्मप्रतिपादक किसी भी वचनका प्रमाण होना सिद्ध नहीं हो पायेगा * ऐसी आशंकाके निवारणार्थ किसी भी वादकी चौखटके भीतर इत्यादि विधान किया गया है. वस्तुतः तो श्रुतिओंका अभिप्राय तो नानाविध वाक्योंकी ब्रह्मके बारेमें एकवाक्यता निरूपित करनेमें है क्योंकि ब्रह्ममें सर्वभवनसामर्थ्य है और साथ ही साथ वह विरुद्धधर्माश्रय भी है ही. जो इस तरहका निरूपण नहीं करना चाहते हैं उन वादिओंके वाक्य तत्तद् अंशके प्रतिपादक वाक्योंके सीमित अभिप्रायके द्योतक मानने चाहिये उन वचनोंके वक्ताओंके हृदयमें श्रौत अभिप्राय नहीं होता है. अतः सभी वाद वक्ताओंको होती भ्रान्तिके वश परिकल्पित होते हैं, अतः वाच्यीभूत अर्थको छू न पाते होनेके कारण अनवसरपराहत ही होते हैं. इ* वादिओंके हृदयोंमें चाहे जो भाव हों, उनके वचन तो सरस्वतीरूप होनेके कारण क्यों एकवाक्यता प्रकट नहीं कर पाते ? * इस आशंकाके

निवारणार्थ कहते हैं जितने भी वादोंकी चौखटमें... उसी ब्रह्मके चित्र हैं. एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मका प्रतिपादक वाक्यशेषरूप होता है और भगवान् उन सारे वादोंके अनुरूप अपना स्वरूप प्रकट कर सकते हैं.

अवतरणिका :

तत्र, ब्रह्मणि विरुद्धधर्माः सन्तीति ज्ञापनार्थम् आह :

कारिका :

(५६) अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च ॥

(५७) विरुद्धसर्वधर्माणाम् आश्रयं युक्त्यगोचरम् ॥७१॥

भावानुवाद :

उस एक ब्रह्मकी मूर्तियां अनन्त होती हैं, वह कूटस्थ भी होता है और चल भी है ही ॥

वह सभी तरहके विरुद्ध धर्मोंका एक ऐसा अविरुद्ध आश्रय होता है कि जो युक्तिसे गोचर हो नहीं पाते ॥७१॥

प्रकाश :

अनन्तमूर्ति इति, अनन्ताः मूर्तयो यस्य. ब्रह्म एकं व्यापकं च. तेन अनेकत्वम् एकत्वं च निरूपितम्. एवं गुणविरोधम् उक्त्वा क्रियाविरोधम् आह कूटस्थं चलमेव च इति. एवकारः सगुणादिभेदविज्ञापनार्थः. च कारो अनुक्तविरुद्धधर्मसंग्रहार्थः. वाक्येष्विव अत्रापि विरोधम् आशंक्य समाधानार्थं स्पष्टम् आह विरुद्धसर्वधर्माणाम् इति. ब्रह्मैव हि सर्वाधारम्. यथा भूमिः सहजविरुद्धानामपि मूषकादिजीवानां, कारणगतधर्मः पृथिव्यां भासते, विशेषेण लौकिकयुक्तिः अत्र न अस्ति, तदगम्यत्वाद् इति आह युक्त्यगोचरम् इति.

अनुवाद :

ब्रह्ममें अनेक विरुद्ध धर्म होते हैं यह दिखला रहे हैं :

मूर्तियां अनन्त होती हैं इत्यादि. जिसकी मूर्तियां अनन्त होती हैं. ब्रह्म एक और व्यापक भी होता है. एतावता ब्रह्म अनेक भी होता है एक भी होता है, ऐसा निरूपण किया गया. इस तरह ब्रह्मके भीतर विविध गुणोंका विरोध दिखला कर अब विविध क्रियाओंका विरोध दिखला रहे हैं वह कूटस्थ भी होता है और चल भी. है ही पदके प्रयोगवश सगुण आदि भेदके विज्ञापनार्थ है. भी यहां जो कहे नहीं गये ऐसे भी विरुद्ध धर्मोंके संग्रहार्थ प्रयुक्त हुवा है. वाक्योंकी तरह यहां भी विरोधकी आशंका होनेपर उसके समाधानार्थ कहते हैं वह सभी विरुद्ध धर्मोंका एक आश्रय होता है. ब्रह्म ही सभीका आधार रूप है, जैसे भूमि परस्पर सहज विरुद्ध मूषक आदि अनेक प्राणिओंकी आधार होती है, ब्रह्म रूपी कारणके ही धर्म पृथिवीमें भी भासित होते हैं. इस विषयमें किसी तरहकी लौकिक युक्तिकी अपेक्षा यहां नहीं है, युक्तिओंसे ब्रह्मके अगम्य होनेके कारण, यह अब दिखला रहे हैं युक्तिसे गोचर हो नहीं पाते.

अवतरणिका :

* ननु अवतारेषु भगवत्त्वश्रुतेः लौकिकप्रमाणविषयत्ववत् लौकिकयुक्तिविषयत्वमपि कुतो न ? * इति आशंक्य आह :

कारिका :

(५८) आविर्भावतिरोभावैः मोहनं बहुरूपतः ॥

(५९) इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्यं, स्वेच्छयातु तत् ॥७२॥

भावानुवाद :

वह भगवत्स्वरूप अनेक रूपोंमें अपने आविर्भाव और तिरोभाव दिखला कर देखनेवालोंमें जैसे मोह उत्पन्न करनेवाला होता है वैसे ही ॥

इन्द्रियोंके सामर्थ्यके विचारसे अदृश्य होनेपर भी स्वेच्छया

तो लौकिक इन्द्रियोंसे भी गम्य बनता है ॥७२॥

प्रकाश :

आविर्भावतिरोभावैः इति, आविर्भावो अवतारो मत्स्यादिरूपेण प्राकट्यम्. तिरोभावो अवतारसमाप्तिः. ते च बहुप्रकाराः स्थावरेभ्यो जंगमेभ्यः स्वतोऽपि भवन्ति. ते सर्वे प्रकाराः मोहकाएव, नटवद् बहुरूपत्वात्. अन्यथा लौकिकयुक्तेः लंघनं न स्यात्. नहि मत्स्यो अह्ना योजनशतं वर्धते. नापि क्षणेन पर्वताकारो भवति वराहः. अतो लौकिकबुद्धिविषयत्वं नटइव ध्वान्तम्. स्वतो न लौकिकयुक्तिगोचरत्वम् इति अर्थः. तथापि कृष्णादयः सर्वैः दृष्टा अपि तेषु कथं लौकिकप्रमाणाविषयत्वं? तत्र आह इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् इति, चक्षुः न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छयैव “मां सर्वे पश्यन्तु!” इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्.

अनुवाद :

* यहां एक शंका उभरती है कि लोकमें अवतीर्ण भगवत्स्वरूप अवतारकालमें तो लौकिक चक्षु आदि प्रमाणोंके विषय बने ही थे अतः भगवान्के अवतीर्ण स्वरूपोंकी लौकिक युक्तिगम्यता भी अवतारप्रतिपादिका श्रुतिओंके आधारपर क्यों नहीं सिद्ध होगी! * इसके निराकरणार्थ कहते हैं :

आविर्भाव और तिरोभाव इत्यादि, आविर्भाव अर्थात् मत्स्य आदि रूपोंमें प्रकट होनेवाला अवतार. तिरोभाव अर्थात् अपने अवतीर्ण स्वरूपकी लौकिक इन्द्रियगम्यताकी समाप्ति. ये भगवदवतार अनेक प्रकारोंसे, कभी स्थावर वस्तुओंमें तो कभी जंगम तत्त्वोंमेंसे तो कभी स्वतः भी, प्रकट होते हैं. ये सारे प्रकार मोहक होते हैं, एक नट जैसे अनेक रूप धारण कर सामने आनेपर मोह प्रकट करता है वैसे ही. अन्यथा अवतारकालीन लीलाओंमें लौकिक युक्तिओंका उल्लंघन करनेवाले चरित्र गुणधर्म या स्वरूप प्रकट होने नहीं चाहिये थे. इस लोकमें कौनसा मत्स्य केवल एक दिनमें सौ योजन (प्रायः १२००

किलोमीटर) बढ़ सकता है! न कोई वराह एक क्षणमें पर्वताकार हो पाता है! अतः भगवदवतारोंको लौकिक बुद्धिका विषय होता मानना नटोंके नाटकीय आहार्य रूपोंको उनका वास्तविक स्वरूप मान लेनेकी धांधल जैसी ही होती है. अतः भगवान्के अवतीर्ण रूप स्वतः तो लौकिक युक्तिओंसे गोचर हो नहीं सकते यह आशय है. फिरभी श्रीकृष्ण आदिको सभीने देखा ही था अतः उन्हें लौकिक प्रमाणोंका अविषय कैसे माना जा सकता है? इसका खुलासा देते हैं इन्द्रियोंके सामर्थ्यसे इत्यादि, हमारे नयन अपने सामर्थ्यद्वारा भगवान्को देख नहीं सकते किन्तु “सभी मुझे देखें!” ऐसी भगवदिच्छाके कारण ही सभी उन्हें देख पाते हैं.

.....

अवतरणिका :

* ननु ब्रह्मवादेऽपि “वाचारम्भण...” (छान्दो.उप.६।१।४) वाक्यानुरो-
धाद् विकल्पानाम् असत्यत्वम् अंगीकर्तव्यम्! * इति आशंक्य आह :

कारिका :

(६०) अखण्डाद्वैतभानेतु सर्वं ब्रह्मैव न अन्यथा ॥

(६१) ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः ॥९१॥

भावानुवाद :

ब्रह्मके अखण्डाद्वैतका भान होनेपर तो सभी कुछ
ब्रह्म ही है अन्य कुछ भी नहीं ॥

ब्रह्माद्वैतका भान तो नाम-रूप-कर्मघटित विकल्पोंका
नहीं; किन्तु, अब्रह्मात्मक विकल्पोंमें उलझी हमारी बुद्धिका
ही बाधक बनता है ॥९१॥

प्रकाश :

अखण्डाद्वैतभानेतु इति, द्वेधा हि वेदान्तानां बोधनप्रकारः : “प्रजा-

येय...” (तैत्ति.उप.२।६) इति वाक्यानुरोधाद् उच्चनीचत्वं भगवानेव प्राप्तः
इति विकल्पबुद्ध्यावपि ब्रह्मावगतिः न विरुद्धयते. क्वचित् पुनः विकाराः
वाचैव आरब्धा इति कार्याशम् अनादृत्य वस्तुस्वरूपविचारेण आविर्भावतिरो-
भावौ पृथक्कृत्य सन्मात्रं जगद् इति बोधयन्ति. तत्र प्रथमपक्षे सन्देहएव
नास्ति. द्वितीयपक्षेऽपि न दूषणम् इति ‘तु’शब्दः. यदा अखण्डाद्वैतभानं
सुवर्णाग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिः
‘घटः’-‘पटः’ इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति, नतु स्वरूपतोऽपि
घटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यते इति अर्थः.

अनुवाद :

* ब्रह्मवादमें भी “‘विकार’ तो वाणीका व्यवहार है...”
(छान्दो.उप.६।१।४) ऐसे श्रुतिवचनके आधारपर नाम-रूप-कर्मोंके विकल्पोंको
तो असत्य ही मानना चाहिये! * इस आशंकाके समाधानार्थ कहते
हैं :

ब्रह्मके अखण्डाद्वैतका भान इत्यादि. वेदान्तद्वारा ब्रह्मबोधन
दो प्रकारसे होता है : “मैं एक अनेक प्रकट हो जाऊं...” (तैत्ति.उप.२।६)
इस श्रुतिवचनके अनुरोधवश सारे उच्चावच रूपोंमें भगवान् ही प्रकट
हुवे हैं अतः भगवान्द्वारा धारित विविध नाम-रूप-कर्मोंका अवगाहन
करनेवाली बुद्धि ब्रह्मके साक्षात्कारी ज्ञानसे विरुद्ध नहीं जाती. उपादान
कारणमें प्रकट होनेवाले विविध नाम-रूप-कर्मोंके विकल्पोंको कारणरूप
न मान कर कारणसे पृथक् विकार मानना तो केवल वाणीका विलास
ही होता है अतः कार्याशपर ध्यान दिये बिना वस्तुस्वरूपके विचारवश
आविर्भाव-तिरोभावोंको पृथक् करके जगत्को सन्मात्र मानना ब्रह्मबोधनका
दूसरा प्रकार है. इन दानों पक्षोंके अन्तर्गत प्रथम पक्षमें तो किसी
तरहके सन्देहका अवकाश ही नहीं. दूसरे पक्षमें भी कोई दूषण उभरता
नहीं यह जतानेको ‘तो’ पदका प्रयोग किया. ब्रह्मके अखण्डाद्वैतका
जब भान होता है तब सुवर्णके ग्राहककी तरह सुवर्णनिर्मित सकल
आभारण सुवर्णतया अवगत होते हैं. तब सुवर्णनिर्मित कड़ा कुंडल

या कंठी आदि नाम-रूप-कर्मोंके अवान्तरविकल्पोंमें उलझनेवाली बुद्धि 'यह घड़ा है'-'यह कपड़ा है' इस तरहकी वह बाधित हो जाती है, सर्वत्र एक अखण्ड ब्रह्मके होनेकी बुद्धिके कारण. एतावता घड़ा या कपड़ा जैसे धर्मी पदार्थ स्वरूपतः बाधित नहीं हो जाते.

अवतरणिका :

* ननु घटपटयोः अद्वैतं न उपपद्यते इति प्रत्यक्षानुरोधाद् द्वैतम् अंगीकर्तव्यम् ! * इति आशंक्य आह :

कारिका :

(६२) भिन्नत्वं नैव युज्येत ब्रह्मोपादानतः क्वचित् ॥

(६३) वाचारम्भणमात्रत्वाद् भेदः केन उपजायते ॥९२॥

भावानुवाद :

दोनों ही एक ब्रह्मके उपादानरूप कारणमें समानरूपेण प्रकट हुवे होनेके कारण भिन्न हो नहीं सकते ॥

उपादान-उपादेयका भेद तो तात्त्विक न हो कर वाचिक विवक्षावश होनेके कारण दोनोंके बीच भेद हो कैसे सकता है ? ॥९२॥

प्रकाश :

भिन्नत्वम् इति, कटककुण्डलयोः भेदो न सर्वथा भवति. उपादानस्य एकत्वात्. धर्मरूपत्वे एकस्यैव उभयं धर्मः. तयोश्च उपादानाभेदाद् भेदो न युक्तिसहः. प्रत्यक्षन्तु अभेदेऽपि भेदं गृह्णाति. द्विचन्द्रवत्. महतान्तु प्रत्यक्षं तदपि न गृह्णाति. अतः प्रमाणानुरोधाद् वाचारम्भणमात्रत्वं पदार्थानाम् अवगत्य सर्वत्र ब्रह्मभावावगतौ केन भेद उपजायते इति अर्थः. तस्माद् भेदानुरोधेनापि ब्रह्मवादो न निराकर्तव्यः इति भावः.

अनुवाद :

* जहां तक प्रत्यक्षका प्रश्न है तब तक घड़े और कपड़े

का एक होना तो उपपन्न हो नहीं सकता. अतः दोनोंके बीच द्वैत अंगीकार करना चाहिये ! * इस शंकाके समाधानार्थ कहते हैं :

भिन्न हो नहीं सकते इसका अभिप्राय यह है कि समानरूपेण सुवर्णसे निर्मित कड़ा या कुण्डल के बीच तात्त्विक भेद तो हो नहीं सकता, उपादान कारणके एक होनेके कारण. उन्हें सुवर्णके दो विभिन्न धर्म या आकृति के रूपमें निहारनेपर एक तत्त्वके दोनों धर्म सिद्ध होते हैं. उन दोनोंका अपने समान उपादान कारणके साथ भेद न होनेके कारण परस्पर भी भेद मानना युक्तियुक्त नहीं. प्रत्यक्षमें दोनोंका भिन्न दिखलायी देना तो चन्द्रमाके एक होनेपर भी दो दीखने जैसे प्रत्यक्षकी तरह समझना चाहिये. ब्रह्मज्ञानियोंको होते प्रत्यक्षमें वह भासित नहीं होता. अतः प्रमाणोंके अनुरोधवश वाचिक या विवक्षावश प्रकट हुवा भेद है ऐसा जान लेनेपर सर्वत्र एकमेवाद्वितीय ब्रह्मको ही अवस्थित माननेपर भेद कैसे पनप सकता है ? अतः भेदके अनुरोधवश भी ब्रह्मवादका निराकरण करना नहीं चाहिये यह भाव है.

अवतरणिका :

एवं मायावादं निराकृत्य सांख्यनिराकरणार्थम् आह :

कारिका :

(६४) सांख्यो बहुविधः प्रोक्तः तत्र एकः सत्प्रमाणकः ॥

(६५) अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः ॥९३॥

भावानुवाद :

सांख्यमत अनेकों रूपोंमें निरूपित हुवा है उनमेंका एक रूप सच्चा और प्रामाणिक है ॥

जिस सांख्यमतकी प्रक्रियामें श्रीहरि ही अट्टाईसों तत्त्वोंके रूपमें प्रकट हुवे प्रतिपादित हुवे हैं ॥९३॥

प्रकाश :

सांख्यो बहुविध इति, ब्रह्मवादएव प्रथमसृष्टानां पदार्थानां सांख्ययोगात्

सांख्यम् इति यद् मतं तद् ब्रह्मवादएव प्रविशति. स्वतन्त्रतया यानि मतानि तानि अप्रामाणिकानि तत्र एकं स्थापयति तत्रैक इति, सतां प्रमाणसिद्धः. तस्य स्वरूपम् आह अष्टाविंशति इति.

अनुवाद :

इस तरह मायावादके निराकरणके बाद अब सांख्यमतके निराकरणार्थ अग्रिम प्रतिपादन है :

सांख्यमत अनेकों रूपोंमें इत्यादि, ब्रह्मवादके अनुसार स्वीकृत प्रथम सृष्ट तत्त्वोंको सांख्यके अनुसार संख्यान करनेपर जो सांख्यमत प्रकट होता है वह तो ब्रह्मवादका ही अवान्तर स्वरूप है. ब्रह्मवादीया प्रक्रियासे स्वतन्त्रतया जो प्रकार सांख्यमतके दर्साये गये हैं उन्हें तो अप्रामाणिक ही समझने चाहिये. उनमें एक प्रक्रियाको स्थापित करनेको कहते हैं उनमेंका एक अर्थात् सत्पुरुषोंको मान्य प्रमाणशास्त्रसे सिद्ध है. उसका स्वरूप समझाते हैं अट्टाईसों इत्यादि.

(स्वमतके अनुसार साधन और फल की व्यवस्था)

अवतरणिका :

एवं परमतं निराकृत्य स्वमते यथा भजनं तथा संकलीकृत्य आह :

कारिका :

(६६) एवं “सर्वं ततः”, “सर्वं स” इति ज्ञानयोगतः ॥

(६७) यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिर् उत्तमः ॥१०१॥

(६८) प्रेमाभावे मध्यमः स्याद् ज्ञानाभावे तथा आदिमः ॥

(६९) उभयोरपि अभावे तु पापनाशः ततो भवेत् ॥१०२॥

भावानुवाद :

इस तरह “सब कुछ उससे ही प्रकट हुवा है”, “वही सब कुछ बना है” इस तरहके ज्ञानके साथ ॥

जो श्रीहरिका भजन श्रवण-कीर्तन आदि प्रकारोंके साथ प्रेमपूर्वक करता है वह उत्तम है ॥१०१॥

प्रेमके बिना अथवा ज्ञानके बिना किये जानेपर भजन मध्यम प्रकारका माना जाता है. इसी तरह आदिम प्रकारका ॥

भजन ज्ञान और प्रेम दोनोंके बिना केवल क्रियारूपेण किये जाता हो तब माना जाता है. यह भजन मात्र पापनाशक होता है ॥१०२॥

प्रकाश :

एवं सर्वम् इति, एवं सर्वं निश्चित्य सर्वं भगवतएव, सएव च सर्वम् इति वैदिकगौणमुख्यज्ञानयुक्तः, प्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः. शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः. प्रेमाभावे मध्यमः इति वा. ज्ञानाभावे तथा मध्यम इति अर्थः. आदिमो वा. उभयोः अभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं, धर्मत्वं वा, नतु भक्तिमार्गः इति अर्थः.

अनुवाद :

इस तरह परमतके निरसनके बाद निजमतमें भजन जिस प्रकारका मान्य करना चाहिये उसका संकलन अब करना है :

इस तरह “सब कुछ उससे...” इत्यादि. इस तरह सभी कुछ भगवान्से ही प्रकट हुवा और भगवान्का ही मान कर, सभीको भगवान् मान कर, यह वैदिक ज्ञानके गौण और मुख्य प्रकार हैं इनसे सम्पन्न हो कर, श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वन्दन-दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनके प्रकारोंको प्रेमपूर्वक निभाते हुवे जो भजन करता है वह भक्तिमार्गमें उत्तमाधिकारी होता है. शास्त्रीय ज्ञानके अभावमें भी प्रेमपूर्वक भजन करनेवालेको मध्यमाधिकारी मानना चाहिये. अथवा प्रेमके बिना अथवा ज्ञानके बिना किये जाते भजनको भी मध्यम

अथवा आदिम कोटिका मानना चाहिये. दोनोंके बिना जाते श्रवण-कीर्तन-स्मरण आदि पापनाशक होते हैं, अथवा उन्हें धर्मरूप मानना चाहिये भक्तिमार्ग नहीं यह आशय है.

कारिका :

(७०) तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति ॥

(७१) योगयोगे तथा प्रेम स्तुतिमात्रं ततो अन्यथा ॥१०३॥

भावानुवाद :

श्रवण आदि जब तप और वैराग्य के साथ किये जाते हैं तो ज्ञानरूप फलको देनेवाले बनते हैं ॥

योगके साथ श्रवण आदिका अनुष्ठान करनेपर प्रेमरूप फलको देनेवाले बनते हैं. इन सभीसे रहित श्रवणआदिकी तो स्तुतिमात्र की गयी है ॥१०३॥

प्रकाश :

तपोवैराग्य सहितं चेत् श्रवणादिकं भवेद् अन्यतरसहितं वा, तदा जन्मान्तरे ज्ञानं भविष्यति इति ज्ञातव्यम्. “बहूनां जन्मनाम् अन्ते” (भग.गीता.७।१९) इति वाक्यात्. योगसहितभजने प्रेम. प्रथमस्य मध्यमत्वं, मध्यमस्य उत्तमत्वम् इति क्रमः. मार्गाभावे केवलश्रवणादीनां यत् परमपुरुषार्थसाधकत्वं निरूप्यते तद् भगवत्स्तोत्रनिरूपणम्. “धन्यो अहम्” इत्यादिवत्. प्रमेयबलेन तेषां सिद्धिः भवति चेद् भवतु, न अन्यथा इति अर्थः.

अनुवाद :

तप और वैराग्य के सहित किये जाते हैं तो श्रवण आदि अथवा इनमेंसे अन्यतरके भी सहित किये जाते हैं तो तब जन्मान्तरमें ज्ञानरूप फलके प्रदायक होते हैं, “बहुत सारे जन्मोंके बाद” (भग.गीता.७।१९) इस भगवद्वाक्यके आधारपर. योगमार्गीय प्रक्रियाके सहित किया जाता भगवद्भजन प्रेमरूप फलका प्रदायक बनता है.

प्रथम कल्पको मध्यम मानना चाहिये. द्वितीयको उत्तम मानना चाहिये ऐसा क्रम अभिलषित है. किसी भी मार्गके अन्तर्गत न किये जानेवाले केवल श्रवण आदिकी परम पुरुषार्थके साधकतया जो स्तुति शास्त्रोंमें निरूपित हुयी है वह तो भगवान्की स्तुति है नकि इन श्रवण आदि साधनोंकी, “मैं तो धन्य हुं!” इत्यादि वचनोंके जैसी. हां, प्रमेयबलके वश वे सिद्ध होते हों तो मार्गके अंग बने बिना भी सफल हो सकते हैं अन्यथा तो नहीं यह आशय है अर्थः.

(शास्त्रार्थ प्रकरणका उपसंहार)

अवतरणिका :

एवं शास्त्रार्थम् उक्त्वा उपसंहरति :

कारिका :

(७२) अर्थोऽयमेव निखिलैरपि वेदवाक्यैः

रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः ॥

अन्यैः च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः

निर्णयते सहृदयं हरिणा सदैव ॥१०४॥

भावानुवाद :

सारेके सारे वेदोंके वचनोंके अनुसार अर्थ यही है

महाभारत तथा पञ्चरात्र के साथ रामायणोंके अनुसार भी यही अर्थ है ॥

तत्त्वसूत्रों और अन्यान्य शास्त्रवचनों के अनुसार भी यही अर्थ है:

हृदयके साथ निर्णय इसी तरहका श्रीहरि सदा प्रकट करते रहे हैं ॥१०४॥

प्रकाश :

अर्थो अयमेव इति, सर्वेषां प्रमाणानाम् अत्र एकवाक्यता. अन्येषु वाक्याभासाएव. रामायणानां बहुत्वं, सर्वकल्पेष्वपि एवमेव प्रतिपादयन्ति

इति ज्ञापनार्थम्. भारतपञ्चरात्रयो रामायणशेषत्वं चरित्रप्रतिपादकत्वाविशेषात्. अन्यानि शास्त्राणि पुराणरूपाणि. तच्छेषत्वं वा भारतादेः. तत्त्वसूत्राणि चतुर्लक्षणी मीमांसा. तैः सर्वैरपि ज्ञानं प्रेमसहितं कर्तव्यम् इति निर्णीयते. अन्यथा चतुर्दशविद्यानां सरस्वतीरूपत्वाद् एकनिष्ठता न स्यात्. तत्रापि सहृदयं, भावोऽपि तस्या एकत्रैवेति. अयम् अर्थः सरस्वतीभर्त्रैव ज्ञायते इति हरिणा इति उक्तम्. कदाचिद् अन्यथा केचिद् वक्ष्यन्ति इति तन्निराकरणार्थं सदा इति.

अनुवाद :

इस तरह अब शास्त्रार्थ-प्रकरणके निरूपणके बाद अब उपसंहार करते हैं :

अर्थ यही है अर्थात् सारे प्रमाणोंकी एकवाक्यता इस विषयमें एकवाक्यता है. अन्य अर्थोंमें उनकी विवक्षा स्वीकारनेपर वे वाक्याभास ही सिद्ध होते हैं. रामायणोंके भी अनेक प्रकार हैं, सभी कल्पोंमें इसी तरह उनमें प्रतिपादित हुवा मानना चाहिये यह जतानेको बहुवचनका प्रयोग किया गया है. भारत और पञ्चरात्र भी रामायणकी अंग हैं भगवच्चरित्रका प्रतिपादन सभीमें समानरूपेण अभीष्ट होनेसे. अन्य शास्त्र पुराण रूप हैं. भारत आदिको इन पुराणोंका अंग भी माना जा सकता है. तत्त्वसूत्र महर्षि वेदव्यासके द्वारा रचित सूत्र अर्थात् चार अध्यायोंवाली ब्रह्ममीमांसा. इन सभीके आधारपर ब्रह्मज्ञान भगवत्प्रेमके सहित होना आवश्यकतया निर्णीत किया गया है. अन्यथा तो चौदह प्रकारकी विद्या सरस्वतीरूप होनेपर भी एकनिष्ठ नहीं हो पायेंगी. इसके साथ ही साथ हृदयके साथ अर्थात् सरस्वतीका भाव भी किसी एक तत्त्वके प्रतिपादनमें ही रूढ़ है यह आशय तो जो सरस्वतीका भर्ता हो वही जान सकता है इसलिये कहा श्रीहरि . कभी कोई इससे अन्यथा भी कुछ कहा हो सकता है, ऐसी शंकाके निरसनके लिये कहा गया सदा .



॥ तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत ॥

॥संक्षिप्त सर्वनिर्णयप्रकरण ॥

॥ सर्वनिर्णयप्रकरण ॥

(शास्त्रार्थप्रकरणोक्त विषयकी विवेचना)

शास्त्रार्थप्रकरणोक्त प्रमेयोंका विवेचन :

अवतरणिका :

एवं प्रमाणं निरूप्य तत्सन्देहं निराकृत्य प्रमेयं निरूपयति :

कारिका :

(^१) प्रमेयं हरिरेव एकः सगुणो निर्गुणः च सः ॥

(^२) गुणाः कार्यं तथा धर्मः क्रियोत्पत्त्यादयः च सः ॥८४॥

भावानुवाद :

सिद्धान्तके अनुसार प्रमेय तो केवल श्रीहरि ही एकमात्र हैं वे ही सगुण भी हैं और निर्गुण भी वे ही हैं ॥
गुण कार्य तथा धर्म क्रिया उत्पत्ति आदि सभी कुछ वे ही हैं ॥८४॥

प्रकाश :

प्रमेयम् इति, यथा शब्दएव प्रमाणं तत्रापि वेदादिभावापन्नं; तथा, हरिरेव प्रमेयं सर्वभावापन्नमिति. सर्वमेव गणयति सगुणः इत्यादिना. क्रिया, उत्पत्त्यादयः च स हरिरेव.

अनुवाद :

इस तरह प्रमाणके निरूपण और उसमें उठते सन्देहोंके निराकरण के बाद अब प्रमेयका निरूपण करते हैं :

प्रमेय , जैसे शब्दको ही केवल प्रमाण माना गया और उसमें भी वेद आदि शास्त्रोंके रूपमें प्रकट हुवे शब्दोंको ही वैसे ही केवल

श्रीहरि, जो सारे नाम-रूप-कर्मोंके रूपमें स्वयं प्रकट होते हैं, उन्हें ही प्रमेय जानना चाहिये. श्रीहरि किन-किन रूपोंमें प्रकट होते हैं उसके परिगणनार्थ कहते हैं सगुण इत्यादि. क्रिया, उत्पत्ति आदि सभी कुछ वे ही श्रीहरि बनते हैं.

एकमेव अद्वितीय प्रमेयका बोध भलीभांति हो पाये तदर्थ उसकी त्रिविधताका उपपादन :

अवतरणिका :

एवम् उक्ते सम्यग् ज्ञानं न भवति इति विशेषं वक्तुम् आह :

कारिका :

(^३) बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेण उपवर्ण्यते ॥

(^४)^१ कारणेन च ^२ कार्येण ^३ स्वरूपेण विशेषतः ॥८५॥

भावानुवाद :

वह तत्त्व भलीभांति बुद्धिगत हो पाये तदर्थ उसके तीन रूपोंका उपवर्णन किया जाता है ॥
विशेषतः ^१ कारणरूपेण ^२ कार्यरूपेण और ^३ स्वरूपेण भी ॥८५॥

प्रकाश :

बुद्धि... इति, यथा बुद्धिः सर्वं प्रमेयजातं क्रोडीकरोति तदर्थं त्रिरूपेण उपवर्ण्यते. तदैव तरतमभावो भवति.

अनुवाद :

ऐसा कहनेपर भलीभांति समझ पाना कठिन होनेसे कुछ विशेषता कहना चाहते हैं :

बुद्धि... , समग्र प्रमेयको जिस तरह बुद्धि संकलित कर पाये तदर्थ उसका तीन रूपोंमें उपवर्णन किया जाता है. तीन रूपोंमें उपवर्णित

करनेपर तरतमभाव उपपन्न हो पाता है.

प्रमेयकी प्राथमिक कारणकोटि :

कारिका :

(५) अष्टाविंशतिभेदास्तु (१)कारणे तत्त्वभेदतः ॥

(६) भगवत्-त्वं यतस् तेषां तस्मात् तत्त्वानि तानि तु ॥८६॥

भावानुवाद :

^१ कारणकोटिके अन्तर्गत अट्ठाईस भेद होते हैं

तत्त्वभेदवशात् ॥

इन्हें 'तत्त्व' भगवान् होनेके अर्थमें कहा जाता है ॥८६॥

प्रकाश :

प्रथमे अष्टाविंशतिभेदाः. तेषाञ्च कारणत्वं 'तत्त्व'पदवाच्यत्वं च समर्थयति भगवत्त्वम् इति.

अनुवाद :

प्रथम कोटिके अन्तर्गत अट्ठाईस प्रभेद होते हैं. इनका कारण होना और 'तत्त्व'पदसे वाच्य होनेके समर्थनार्थ भगवान् होना कहा जाता है.

कारिका :

(७) अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं नच अन्यथा ॥

(८) कारणत्वं न चैव अस्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः ॥८७॥

भावानुवाद :

ब्रह्माण्डके प्रकट होनेसे पूर्वमें विद्यमान होनेके कारण ही इनका 'कारण' होना कहा जाता है अन्य किसी हेतुके वश नहीं ॥

सच्चिदानन्द ब्रह्मके चिदंश और आनन्दांश स्वतः

कारण नहीं बनते हैं ॥८७॥

प्रकाश :

सच्चिदानन्दभेदेषु सद्भेदाएव एते, चिदानन्दयोः कारणत्वाभावात्. एकस्य फलत्वम्, अपरस्य स्वरूपत्वम् इति आह कारणत्वं नचैव अस्ति इति.

अनुवाद :

सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश चिदंश और आनन्दांश के अन्तर्गत इन्हें सदंशके अवान्तर प्रभेद समझने चाहिये, क्योंकि चिदंश और आनन्दांश का स्वतः कारण होना उपपन्न नहीं होता. आनन्दांश स्वतः तो फलरूप होता है और चिदंश स्वतः केवल स्वरूप ही बन पाता है इसे समझानेको कहते हैं स्वतः कारण नहीं इस अंशद्वारा.

कार्यरूप द्वितीयकोटिमें आनेवाले असंख्य होनेके कारण उन प्रमेयोंकी गणना शक्य नहीं :

कारिका :

(९) आनन्त्यमेव भेदानां तयोः (१०) कार्ये तथैव च ॥

(९) अतः तेषान्तु ये भेदाः न उक्ताः ते हि विशेषतः ॥८८॥

भावानुवाद :

^१ कार्यकोटिके अन्तर्गत जो आते हैं वे तो असंख्य होते हैं ॥

अतः उनके भेदोपभेदोंका विशेषतः निरूपण किया नहीं गया है ॥८८॥

प्रकाश :

तयोः भेदाः अनन्ताः तेन विशेषतो न वक्तव्याः इति भावः. कार्येऽपि भेदानाम् आनन्त्यं, घटादी तथा दर्शनात्. ननु स्वस्य असामर्थ्याद्

एतद् उच्यते न इति आह. अतः तेषाम् इति. अतएव भागवतादौ तेषां संख्या न उक्ता.

अनुवाद :

उनके अवान्तर प्रभेद असंख्य होते हैं अतः विशेषतः उनका निरूपण अनावश्यक है. कार्यके अन्तर्गत भी अवान्तर प्रभेद असंख्य होते हैं घड़ा आदिके बारेमें भी इसे ऐसा परखा जा सकता है. * ऐसी शंका उठ सकती है कि कार्यके अवान्तर प्रभेदोंके निरूपण कर पानेकी सामर्थ्य न हो पानेके कारण तो उनकी उपेक्षा नहीं की गयी * उसके निवारणार्थ कहते हैं नहीं. अतः उनके इत्यादि, अतएव भागवत पुराण आदिमें भी कार्यकोटिके भेदोपभेदोंका निरूपण दरसाया नहीं गया है.

प्रमेयकी तीसरी कोटि स्वरूपकोटि :

अवतरणिका :

तत्त्वसहभावात् चिदानन्दयोः स्वरूपभूतयोरपि प्रथमपक्षएव निवेशनम् उक्त्वा तृतीयभेदान् आह :

कारिका :

(१०)^३ स्वरूपेतु त्रयो भेदाः क्रियाज्ञानविभेदतः ॥

(११) विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरेः ॥८९॥

भावानुवाद :

^३ स्वरूपकोटिमें तीन अवान्तर प्रभेद होते हैं : क्रिया

और ज्ञान ॥

और क्रिया-ज्ञान उभयविशिष्ट श्रीहरिके विभेदवश ॥८९॥

प्रकाश :

स्वरूपेतु इति, क्रियारूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी यज्ञः एकः. तथा

ज्ञानरूपे धर्मे प्रविष्टो धर्मी ब्रह्म द्वितीयः. ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णः तृतीयः — इति त्रयो भेदाः. यतः क्रियाज्ञानवान् हरिः.

अनुवाद :

स्वरूपभूत होनेपर भी तत्त्वोंके साथ साहचर्यके वश चिदंश और आनन्दांश का प्रथम पक्षमें ही अन्तर्भाव स्वीकार कर तीसरे भेदका अब निरूपण विवक्षित है :

स्वरूप... इत्यादि, क्रियारूप धर्ममें प्रविष्ट धर्मिरूप यज्ञ एक. तथा ज्ञानरूप धर्ममें प्रविष्ट धर्मिरूप ब्रह्म दूसरा. ज्ञानक्रिया उभययुक्त श्रीकृष्ण तीसरे — इस तरह तीन प्रभेद होते हैं. क्योंकि श्रीहरि क्रिया और ज्ञान उभयविध शक्तिओंसे सम्पन्न होते हैं.

.....

कारणकोटिके अन्तर्भूत तत्त्वोंका उद्देशभावेन पुनः निरूपण :

अवतरणिका :

तत्त्वानि गणयति :

कारिका :

(१२) सत्त्वं रजस् तमश् चैव पुरुषः प्रकृतिर् महान् ॥

(१३) अहंकारः पञ्चमात्राः शब्दस्पर्शाकृतीरसः ॥९४॥

(१४) गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुः ज्योतिर् अप् क्षितिः ॥

(१५) क्रियामयानि इन्द्रियाणि वाग्-दोर्-मेढ्रां-ऽग्नि-पायवः ॥

(१६) श्रोत्रं त्वग्-घ्राण-दृग्-जिह्वा-मनः षड् इति भेदतः ॥९५॥

भावानुवाद :

सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण पुरुष प्रकृति महत् ॥

अहंकार पांच तन्मात्राये शब्द स्पर्श आकृति रस ॥९४॥

गन्ध; तथा पंच महाभूतके अन्तर्गत आकाश वायु
तेज जल पृथिवी ॥

क्रियामयी पांच इन्द्रियां वाणी पाणि शिश्न चरण
और गुदा ॥

ज्ञानमयी पांच इन्द्रियां कर्ण त्वचा नासिका नयन
रसना और एक मन यों छह प्रकारके प्रभेदवश ॥९५॥

प्रकाश :

सत्त्वम् इत्यादिना मनः षड् इत्यन्तेन. मनसः क्रियामयत्वं ज्ञानमयत्वं
च आह भेदतः इति. मनसा सह क्रियायां षड् इति.

अनुवाद :

उन्हीं तत्त्वोंको गिन कर दिखलाते हैं :

सत्त्वगुण से शुरु कर और एक मन छट्ठा यहां तक. मन
तो क्रियामय भी होता है और ज्ञानमय भी अतः कहा प्रभेदवश
इस अंशद्वारा. मनके साथ क्रियायें भी छह होती हैं.

अवतरणिका :

देवतावर्गेण अधिकसंख्याम् आशंक्य परिहरति :

कारिका :

(१७) आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सो असावेव आधिदैविकः ॥

(१८) अतो हि देवतावर्गं इन्द्रियेभ्यो न भिद्यते ॥९६॥

भावानुवाद :

जिसे 'आध्यात्मिक' कहा गया वही आधिदैविक भी
होता है ॥

अतः देवताओंका वर्ग इन्द्रियोंसे भिन्न नहीं माना
गया ॥९६॥

प्रकाश :

आध्यात्मिकस्तु इति.

अनुवाद :

इनके आधिदैविक रूपोंको अतिरिक्त माननेपर अधिक संख्या भी
क्यों नहीं होगी? इस आशंकाके परिहार करनेको कहते हैं :

जिसे आध्यात्मिक इत्यादि.

अवतरणिका :

माया भिन्ना इति आशंक्य आह :

कारिका :

(१९) मायातु गुणरूपा हि कालस्तु भगवान् परः ॥

(२०) सूत्रं महान् तथा प्राणो बुद्धिः च अहमभेदतः ॥९७॥

भावानुवाद :

माया तो गुणरूपा है और काल तो स्वयं परम
भगवान् ही होते हैं ॥

सूत्र महत् प्राण बुद्धि इनकी अहंकारके साथ जोड़
कर गणना की गयी है ॥९७॥

प्रकाश :

मायातु इति. कालस्तु भगवति अन्तर्भूतः. सूत्रन्तु महत् तत्त्वमेव.
तथा प्राणो बुद्धिः च अहंकारएव. तस्माद् अष्टाविंशतिसंख्यकान्येव.

अनुवाद :

माया भिन्न होनी चाहिये कि नहीं? ऐसी शंकाके निराकरणार्थ
कहते हैं :

माया तो इत्यादि. काल तो भगवान्के अन्तर्भूत माना गया

है. सूत्र तो महत् तत्त्व ही का दूसरा नाम है. इसी तरह प्राण और बुद्धि अहंकारके अन्तर्गत माने गये हैं. अतः तत्त्व कुल अट्ठाईस संख्याक ही होते हैं.

काल कर्म स्वभाव प्रकृति और पुरुष के रूपभेदवश अनेकविध भगवान्‌के स्वरूपके निरूपणमें अक्षररूपका उपपादन :

अवतरणिका :

अक्षरकर्मस्वभावान् निरूपयन् प्रथमम् अक्षरम् आह :

कारिका :

(२१) प्रकृतिः पुरुषः च उभौ परमात्मा अभवत् पुरा ॥

(२२) यद्रूपं समधिष्ठाय तद् अक्षरम् उदीर्यते ॥१८॥

भावानुवाद :

परमात्माने सर्वप्रथम प्रकृति और पुरुष रूपी दो रूपोंमें बंटनेके लिये॥

अपने जिस स्वरूपको व्यापृत किया उसे 'अक्षर' कहा जाता है॥१८॥

प्रकाश :

प्रकृतिः पुरुषः च इति, भगवान् यदा येन रूपेण कार्यं कर्तुम् इच्छति तद्रूपमेव व्यापारयति. तत्र “ज्ञानेन मोक्षो देयः” इति यदा विचारयति तदा अक्षरमेव ब्रह्मस्वरूपं पुरुषोत्तमस्य आधारभागः चरणस्थानीयः. तम् आदौ चतुर्भूतीकरोति. अक्षररूपं, कर्मरूपं, कालरूपं स्वभावरूपं च. तत्र यस्य रूपस्य द्वैरूप्यं भवति, प्रकृतिपुरुषभेदेन, तद् अक्षरम्.

अनुवाद :

अक्षरब्रह्म, कर्म और स्वभाव के निरूपणमें प्रथम अक्षरका स्वरूप :

प्रकृति और पुरुष इत्यादि, भगवान् जब जिस रूपसे जो कार्य करना चाहते हैं उस रूपको ही व्यापारित करते हैं. अतः जब “ज्ञानसे मोक्ष प्रदान करना चाहते हैं” तब अपने अक्षररूपको ही ब्रह्मतया जो पुरुषोत्तमका आधारभाग या चरणस्थानीय होता है, उसे चार रूपोंमें प्रकट करते हैं : १. अक्षररूप, २. कर्मरूप, ३. कालरूप और ४. स्वभावरूप. इनमेंसे अक्षररूप पुनः प्रकृति और पुरुष के रूपोंमें द्विधा विभक्त होता है, यही 'अक्षरब्रह्म' कहलाता है.

अवतरणिका :

ननु पुरुषोत्तमस्वरूपात् तत्र को विशेषः ? इति चेत् तत्र आह :

कारिका :

(२३) आनन्दांशतिरोभावः सत्त्वमात्रेण तत्र हि ॥

(२४) मुख्यजीवस् ततः प्रोक्तः सृष्टीच्छावशगो हरिः ॥१९॥

भावानुवाद :

सत्त्वकी प्रमुखता प्रकट करते हुवे इस अक्षरब्रह्ममें आनन्दांशका तिरोभाव सा हो जाता है॥

सृष्टिकी इच्छाके वश श्रीहरि इस तरह मुख्य जीव बनते हैं॥१९॥

प्रकाश :

आनन्दांशतिरोभावः इति, “अग्रे अहम् एवं भविष्यामि” इति इच्छामात्रेण अन्तःसमुत्थितसत्त्वेन आनन्दांशः तिरोहितइव भवति. तेन सृष्टीच्छया व्यापृतो भगवान् 'मुख्यजीव'शब्दवाच्योऽपि भवति. अतएव औडुलोमिमते जीवानां चिद्रूपाणां चिद्रूपे स्वयोग्ये ब्रह्मणि प्रवेशः.

अनुवाद :

पूछा जा सकता है कि पुरुषोत्तमके स्वरूपसे इसमें क्या अन्तर या विशेषता होती है ? इसका समाधान देते हैं :

आनन्दांशका तिरोभाव सा इत्यादि, “अब मैं ऐसा बन जाऊं” ऐसी इच्छाके वश केवल सच्चिदानन्द ब्रह्मके भीतर सदंश प्रबल होकर आनन्दांशको तिरोहित सा कर देता है. अतः सृष्टिकी इच्छामें व्यापृत भगवान् ‘मुख्य जीव’ शब्दसे अभिधेय बन जाते हैं. अतएव महर्षि औडुलोमिके मतमें चिद्रूप जीवोंका स्वयोग्य चिद्रूप ब्रह्ममें प्रवेश स्वीकारा गया है.

अवतरणिका :

* ननु आनन्दांशतिरोभावे जीवत्वमेव स्याद् यथा महदादीनाम्! *
इति आशङ्क्य आह :

कारिका :

(२५) इच्छामात्रात् तिरोभावः तस्य अयम् उपचर्यते॥

(२६) ‘ब्रह्म’-‘कूटस्था’-‘ऽव्यक्ता’दिशब्दैः वाच्यो निरन्तरम्॥१००॥

भावानुवाद :

आनन्दांशका वस्तुतः तिरोभाव नहीं होता परन्तु अनेकवद्भावापन्न होनेकी केवल इच्छाके वश तिरोभाव सा कुछ हो जाता है॥

अतएव अन्तर न होनेपर भी उसे ‘ब्रह्म’ ‘कूटस्थ’ या ‘अव्यक्त’ आदि शब्दोंसे पुकारा जाता है॥१००॥

प्रकाश :

इच्छामात्राद् इति, इच्छायां प्रविष्टायां कार्यव्यापृत्या तिरोभावइव उच्यते. वस्तुतस्तु आनन्दमयएव. अतएव पुरुषो अवतारो भविष्यति. इच्छारूपायाः प्रकृतेः भिन्नत्वे वाचकैरपि तस्य न जीवत्वम् इति अभिप्रायेण आह ब्रह्म इति. ‘आदि’शब्देन ‘असत्’-‘तमः’शब्दादयो गृह्यन्ते. तथापि न पुरुषोत्तमाद् भिन्नतया अवस्थितः किन्तु निरन्तरएव.

अनुवाद :

* यहां एक आशङ्का उभरती है कि आनन्दांशके तिरोभाव होनेपर

अक्षरब्रह्म जीवभावापन्न ही होयेगा जैसे महद् आदि! * इसके समाधानार्थ कहते हैं :

केवल इच्छाके वश इत्यादि, इच्छाके प्रबल होनेके कारण कार्यमें व्यापृत हो जानेको तिरोभावकी तरह कहा जाता है. वस्तुतः तो वह आनन्दमय ही होता है. अतएव अक्षरब्रह्ममेंसे पुरुष अवतीर्ण होता है. बहुभवनकी भगवान्की इच्छा ही प्रकृतिके रूपमें प्रकट हो जाती है अतः ‘जीव’वाचक शब्दोंसे उसका अभिधान किया जाता होनेपर भी वस्तुतः वह जीव ही नहीं बन जाता है, इसी अभिप्रायके वश उसे ब्रह्म कहा गया. ‘आदि’ शब्दके द्वारा ‘असत्’ ‘तमः’ आदि पदोंकी विवक्षा है. इन विशेषताओंके बावजूद पुरुषोत्तमसे अक्षरको भिन्नतया अवस्थित नहीं मान लेना चाहिये अन्तररहित ही.

अवतरणिका :

तस्यैव कारणत्वं ज्ञापयितुं तत्रैव कार्यस्थितिम् आह :

कारिका :

(२७) सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन् अण्डानि कोटिशः॥

(२८) मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितः॥१०१॥

भावानुवाद :

इस अक्षरब्रह्मके भीतर करोड़ों सभी तरहके आवरणोंसे युक्त ब्रह्माण्ड रहते हैं॥

यह मूलसे कट-छंट कर नहीं प्रत्युत अविच्छिन्न उसके आधारके रूपमें अवस्थित होता है॥१०१॥

प्रकाश :

सर्वावरणयुक्तानि इति, “तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म” (भाग.पुरा.३।११।-४१) इति वाक्यात्. एतस्य अक्षरस्य पुरुषोत्तमे अभेदेन यथा निवेशः तथा प्रकाराः उच्यन्ते. तद् आह मूलाविच्छेद... इति, मूलेन पुरुषोत्तमेन सह, अविच्छिन्नतया तिष्ठति, नतु कार्यत्वेन इति आह तदाधारतया

इति. एषा स्थितिः सर्वदा.

अनुवाद :

ब्रह्मके इस अक्षररूपकी कारणता समझानेको अक्षरब्रह्ममें ही कार्योका प्राकट्य दिखलाया जा रहा है :

सभी तरहके आवरणोंसे युक्त इत्यादि, “उसे ‘अक्षर-ब्रह्म’ कहते हैं” (भाग.पुरा.३।११।४१) इस वाक्यके आधारपर. इस अक्षरब्रह्मका पुरुषोत्तमके साथ अभेदभावेन जैसे निवेश होता है उसके प्रकार कहे जाते हैं. वही दिखला रहे हैं यह मूलसे... इत्यादि, मूल=पुरुषोत्तमके साथ अविच्छिन्नतया अवस्थित होनेके कारण. इसे पुरुषोत्तमका कार्यरूप नहीं समझना चाहिये यह कहते हैं उसके आधारके रूपमें. अक्षरब्रह्मका इस तरहसे अवस्थान सार्वदिक होता है.

अवतरणिका :

कदाचित् पुनः पुरुषोत्तमः चेद् आविर्भवति तदा अक्षरमपि बहुधा भवति इति आह :

कारिका :

(२९) प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्ती लोकत्वेन तदुद्भवः ॥

(३०) अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वम् अस्य हि ॥१०२॥

भावानुवाद :

जब श्रीहरि प्रभुतया अवस्थित होते हैं तो अक्षरब्रह्म लोकतया प्रकट रहता है॥

भगवान्के जीवात्माके भीतर अन्तर्यामी रूपमें अथवा लोकमें लीलार्थ अवतीर्ण होते रूप आदिमें तो अक्षरब्रह्म चरणारविन्दतया प्रकट होता है॥१०२॥

प्रकाश :

प्रभुत्वेन इति, प्रभुः वैकुण्ठवासी लोको वैकुण्ठो, जीवजडाकारेण

प्रादुर्भवति इति अर्थः. अतएव वैकुण्ठवासिनो मुक्ताः. ततोऽपि पुरुषोत्तमो महान्. अतएव “अभेदश्च अस्मदादीनाम्” () इति वाक्यं संगच्छते. अन्तरुपासनायाम् अन्तर्यामिरूपेण प्रकटो भवति. तदा सद्योमुक्ती ज्ञानिनः तच्चरणारविन्दमेव प्रविशन्तीति अक्षरस्य पादत्वम्. तथा अवतारेऽपि “चैद्ये च सात्त्वतपतेः चरणं प्रविष्टे” (भाग.पुरा.१०।७२।८) इति. ‘आदि’शब्देन अधिदैवादिरूपेष्वपि.

अनुवाद :

कभी जब पुरुषोत्तम पुनः आविर्भूत होना चाहते हों तब अक्षरब्रह्म भी बहुत सारे रूपोंमें प्रकट होता है :

प्रभुतया इत्यादि, प्रभु वैकुण्ठवासी लोक वैकुण्ठ, अर्थात् जीवात्माके प्रभुतया अन्तर्यामीके रूपमें भगवान्के प्रकट होनेपर अक्षरब्रह्म जीवाकार धारण कर तथा वैकुण्ठ आदि लोकोंमें भगवान्के प्रभुतया प्रकट होनेपर अक्षरब्रह्म जड़ाकार धारण कर प्रादुर्भूत हो जाता है. इस अक्षरात्मकताके कारण वैकुण्ठवासियोंको मुक्तात्मा माना जाता है. अक्षरब्रह्मसे पुरुषोत्तम तो महान् होता है. इसी महानताको लक्ष्यमें रख कर ही “हमारा तथा मुक्तात्माओं का श्रीहरिके साथ अभेद मानना मोहजनक बाते हैं” (स्कन्दपुरा.म.भा.ता.उद्धृत) ऐसे वचनोंकी संगति भी बैठ जाती है. अन्तर उपासनामें अन्तर्यामीके रूपमें प्रकट होनेपर ज्ञानीको सद्योमुक्तिका लाभ मिलता है और वह भगवान्के चरणारविन्दमें ही प्रविष्ट हो जाता है अतः अक्षरब्रह्मका चरणरूप होना उपपन्न होता है. इसी तरह इस लोकमें प्रकट होनेवाले अवताररूपोंमें भी “शिशुपालका जीव सात्त्वतपति भगवान्के चरणमें प्रविष्ट हो गया” (भाग.पुरा.१०।७२।८) ऐसा भागवतमें कहा गया है. ‘आदि’पदके प्रयोगद्वारा आधिदैविक रूपोंको भी अक्षरब्रह्मका ऐसा ही स्वरूप होता है.

.....

अक्षरब्रह्मके एक अन्य रूप कालका निरूपण :

अवतरणिका :

तस्यैव रूपान्तरं कालः इति आह :

कारिका :

- (३१) रूपान्तरन्तु तस्यैव सर्वसामर्थ्यसंयुतम् ॥१०४॥
(३२) चिदानन्दतिरोभावः तदनुद्गमएव च ॥
(३३) ईषत् सत्त्वांशप्राकट्यं बहिर् अन्तस्तु सर्वतः ॥१०५॥
(३४) चिदानन्दावपि तथा स कालः सकलोद्भवः ॥
(३५) क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् नित्यगः सकलाश्रयः ॥१०६॥
(३६) विकृतावेव तच्छक्तिः सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः ॥
(३७) ऐश्वर्यं भगवद्वत्तं तत्रैव प्रतितिष्ठति ॥१०७॥

भावानुवाद :

सभी तरहकी सामर्थ्यवाला उसीका रूपान्तर काल भी होता है ॥१०४॥

कालमें चिदंशका तिरोभाव और आनन्दांशका अनुद्गम ही होता है ॥

सदंश भी भीतर रहनेके बावजूद बाहर तो थोड़ा सा ही प्रकट हो पाता है ॥१०५॥

यद्यपि चिदंश और आनन्दांश भी भीतर तो रहते ही हैं ऐसे कालसे सब कुछ प्रकट होता है ॥

इसमें क्रियाशक्ति प्रधान होनेके कारण नित्यगतिशील होता है और सभीका आश्रय बन जाता है ॥१०६॥

कालकी शक्ति, परन्तु, प्रकृतिसे पैदा होनेवाले कार्यभूत विकारोंपर ही प्रभावी होनेके कारण सभीकी उत्पत्ति और अन्त करनेवाला काल होता है ॥

भगवान्के द्वारा प्रदत्त ऐसा ऐश्वर्य कालमें ही होता है ॥१०७॥

प्रकाश :

रूपान्तरम् इति, तस्य रूपान्तरत्वे हेतुम् आह सर्वसामर्थ्यसंयुतम् इति, सर्वाकारेण भवनातिरिक्तं यावत् किञ्चित् सामर्थ्यं मायायाः विशेषः तत्संयुतम्. तेन अस्य सर्वाधिकारित्वं निरूपितम्. तस्य स्वरूपम् आह चिदानन्दतिरोभावः इति, सच्चिदानन्दरूपेषु द्वयोस्तु स्वेच्छया तिरोभावः. उपासनायाम् अन्यथा करणाभावाय आनन्दांशस्य सर्वथा अनुद्गमः. सजातीयत्वेन जीवसंकोचाभावाय चिदंशस्यापि अनुद्गमः. जडादपि वैलक्षण्यम् आह ईषत्सत्त्वांशप्राकट्यम् इति, व्यवहारे सर्वानुभवसम्भवेऽपि सर्वाप्रत्यक्षत्वात्. तर्हि आकाशतुल्यता स्याद् इति आशंक्य आह अन्तस्तु सर्वतः इति, स बहिर्मुखाणां बहिर्व्यवहारे पूर्वोक्तप्रकारएव. ज्ञानिनान्तु सच्चिदानन्दरूपो भगवानपि कादाचित् तद्रूपो भवतीति. अतः सच्चिदानन्दरूपो अन्तःप्रकटः. तस्य प्रयोजनम् आह सकलोद्भवः इति, सकलस्य उद्भवो यस्मात्. तस्य परमार्थदर्शने कार्यसिद्धिः न भविष्यतीति भगवान् तं क्रियाशक्तिप्रधानमेव कृतवान्. अतः सकलोद्भवहेतुः. नित्यगः च चलनैकस्वभावः. तथा सति सर्वनियामकत्वं न भविष्यतीति विशेषम् आह सकलाश्रयः इति, सर्वं जगत् स्वस्मिन् स्थापयित्वा निरन्तरं गच्छति. अतएव नित्यप्रलयसिद्धिः. कृष्णस्य इदं सामर्थ्यम्. तच्च पुरुषोत्तमाक्षरातिरिक्त(मे!)व इति आह विकृतावेव इति, विकृतौ किं करोति इति आकांक्षायाम् आह सर्वोत्पत्त्यन्तभावनः इति. केचिद् अस्यैव ईश्वरत्वम् आहुः, केचिद् अन्तर्यामिणः, तत्र अस्य ईश्वरत्वे हेतुम् आह ऐश्वर्यं भगवद्वत्तम् इति, मुख्यो अयम् अधिकारी तेन सर्वापेक्षया भगवत्सेवकेषु अन्तरंगः...

अनुवाद :

उसीका रूपान्तर काल भी है यह कहते हैं :

रूपान्तर. रूपान्तर होनेका हेतु बता रहा हैं सभी तरहकी सामर्थ्य इत्यादिद्वारा, सभी कुछ बन पानेके अलावा जो भी सामर्थ्य हो सकते हैं मायाकी विशेषताके वे कालमें रहते ही हैं. अतएव कालका सर्वाधिकारी होना दिखलाया. कालका स्वरूप कहते हैं चिदंश

और आनन्दांश के तिरोभाव द्वारा, सत्, चित् और आनन्द के अन्तर्गत अन्तिम दोनोंका भगवान्की इच्छाके कारण तिरोभाव हो जाता है. कालकी उपासना करनेवाला कोई उसे अन्यथा न बना पाये इसलिये आनन्दांश तो उभर भी नहीं पाता. यह काल जीवकी तरह काम न करने लग जाये अतः चिदंश भी उभर नहीं पाता. जड़से भी कालकी विलक्षणता समझाते हैं बाहर तो थोड़ा सा ही प्रकट द्वारा, हमारे व्यवहारमें सभीको अनुभूत होता होनेपर भी प्रत्यक्षतया अनुभूति नहीं हो पाती है अतः. तब कहीं आकाश जैसा न बन जाये ऐसी शंकाके निवारणार्थ कहते हैं भीतर तो द्वारा, यह काल बहिर्मुख लोगोंके बाह्य व्यवहारमें पहले कहा वैसा ही होता है. अन्तर्मुख ज्ञानियोंके लिये तो सच्चिदानन्दरूप भगवान ही कभी कालके रूपमें अनुभूत होते होनेके कारण. अतः सच्चिदानन्दरूपता भीतर रहती ही है. इस कालरूपको प्रकट करनेका भगवान्का प्रयोजन कह रहे हैं ऐसे कालसे सब कुछ प्रकट होता है द्वारा, जगत्की सभी वस्तुओंका उद्भवो कालसे होता है. कालके पारमार्थिक स्वरूपके दर्शन पानेपर भी कार्य सिद्ध नहीं होता अतः भगवान्ने अपने कालरूपमें केवल क्रियाशक्तिकी प्रधानता स्थापित की है. अतः कालसे सभी वस्तुओंके उद्गमका हेतु बन जाता है. नित्य गतिशील निरन्तर चलते रहनेका ही उसका स्वभाव है. तब तो सभीका नियामक नहीं बन पायेगा अतः उसकी विशेषता समझाते हैं सभीका आश्रयरूप होता है सारे जगत्को अपने भीतर समेट कर निरन्तर चलता रहता है. अतएव नित्य प्रलय भी शक्य है. यही तो श्रीकृष्णका सामर्थ्य कालके रूपमें प्रकट होता है. यह कालरूप ब्रह्मके पुरुषोत्तमरूप और अक्षररूप से भिन्न रूप होता है समझानेको कहते हैं प्रकृतिसे पैदा होनेवाले कार्यभूत विकारोंपर ही द्वारा, उनपर यह क्या प्रभाव डालता है समझाते हैं सभीकी उत्पत्ति और अन्त करनेवाला द्वारा. कुछ इसका ही ईश्वर होना मानते हैं, कुछ अन्तर्यामीका, इस बारेमें यह समझना आवश्यक है कि कालका ऐश्वर्य स्वतः न हो कर भगवान्के द्वारा

प्रदत्त ही होता है. भगवान्‌के सेवकोंमें काल प्रमुख अधिकारी होता है अतः अन्य सभी सेवकोंकी तुलनामें यह अन्तरंग होता है...

अक्षरब्रह्मके रूपान्तर कर्मका निरूपण :

अवतरणिका :

एवं कालं निरूप्य कर्म निरूपयति :

कारिका :

- (३८) विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्तिः उदगतः ॥
 (३९) तत् कर्म प्रकटं तावद् यावत् फलसमापनम् ॥११०॥
 (४०) तद् एकं भगवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम् ॥
 (४१) अग्रपश्चाद्भावभेदाद् द्विधा प्रकटम् उच्यते ॥१११॥
 (४२) सृष्टौ साधारणं तद्धि स्वांशेन प्रकटं यथा ॥
 (४३) कालवत् सकलं रूपम् अंगं तद्वशगं तथा ॥११२॥

भावानुवाद :

विधि-निषेधके प्रकारोंद्वारा जो क्रियाशक्ति प्रकट होती है ॥

वह कर्म करनेवालेको जब तक कर्मफल प्राप्त न हो जाये तब तक प्रकट रहता है ॥११०॥

यह एक ऐसा भगवद्रूप है जो सभीके भीतर साधारणतया रहता ही है ॥

कर्म अग्रभावी या पश्चाद्भावी होनेके प्रभेदके वश दोनों तरहसे प्रकट होता कहा जाता है ॥१११॥

सृष्टिमें वह साधारणतया अपने आंशिक रूपमें प्रकट होता है सभीके प्रति ॥

जैसे सभी वस्तु कालके आधीन होती हैं वैसे ही सभी वस्तु कर्मके भी आधीन होती हैं ॥११२॥

प्रकाश :

विधिषेधप्रकारेण इति, “रूपान्तरन्तु तस्यैव” इति अनुवर्तते. यथा कालो रूपम् अक्षरस्य तथा कर्मापि परम् एतावान् विशेषः : कालः स्वतएव प्रकटो अयन्तु पुरुषैः विधिषेधप्रकारेण प्रकटीक्रियते. अतः कालापेक्षया लोकानां हिताहितप्रदाने विशिष्यते. अयञ्च क्रियारूपो धर्मिणो धर्मे प्रवेशात् कालवद् न नित्यप्रकटः किन्तु फलदानपर्यन्तमेव इति आह यावत्फलसमापनम् इति. तस्य प्रतिपुरुषं भेदो भविष्यति इति आशङ्क्य आह तद् एकं भगवद्रूपम् इति, व्यापकं तद्रूपं तथापि येन यावद्रूपं विधिषेधप्रकारेण वा प्रकटीक्रियते तस्य तावत् फलं दत्त्वा तदंशेन तिरोभवतीति साधारण्येनापि सर्वसम्भवाद् न प्रतिकर्मव्यवस्था इति अर्थः. तर्हि एकः कथं युगपत् सुखदुःखे प्रयच्छति इति आशङ्क्य आह अग्रपश्चाद्भावभेदाद् इति. तस्य एकत्वे प्रमाणम् आह सृष्टौ साधारणम् इति, “कालं कर्म स्वभावं च...” (भाग.पुरा.२।५।२१) इति वाक्यात् सृष्टिकाले यादृशं रूपं तेन परिच्छेद्यं सएव अंशः प्रकटः. अस्यापि चिदानन्दतिरोभावादिः कालवदेव इति आह कालवद् इति. विशेषम् आह तद्वशगम् इति, यत्र यः कालवशे भवति तमेव व्याप्नोति नतु अन्यम् इति अर्थः.

अनुवाद :

इस तरह कालके निरूपणके बाद कर्म निरूपण करते हैं :

विधि-निषेधके प्रकारोंद्वारा, “उसीका रूपान्तर” यह पूर्वश्लोकोक्त पदावलीका यहां भी दोहरानी चाहिये. काल, जैसे अक्षरब्रह्मका एक अन्यतम रूप है, वैसे ही कर्म भी परन्तु अन्तर इतना अवश्य है : काल स्वतः ही प्रकट होता है जबकि कर्म पुरुष अपने विहित या निषिद्ध आचरणोंद्वारा प्रकट करता है. अतः कालकी तुलनामें लोगोंके हिताहितके सम्पादनमें इसकी कुछ अपनी विशेषता प्रकट होती है. कर्म क्रियारूप होनेके कारण क्रियाके आधाररूप धर्मिमें प्रविष्ट होनेके कारण कालकी तरह नित्य प्रकट नहीं होता किन्तु क्रियाके फल मिलने तक ही प्रकट रहता है यह कहते हैं कर्म करनेवालेको जबतक कर्मफल

प्राप्त न हो द्वारा. यह कर्म प्रत्येक पुरुषमें भिन्न-भिन्न होता है या एक ही इस बारेमें शंका-समाधान प्रस्तुत करते हैं कि कर्म भी एक ऐसा भगवद्रूप है जो सभीके भीतर साधारणतया द्वारा, कर्म वैसे तो सर्वव्यापी होता है परन्तु फिरभी उसका उतना ही रूप प्रकट होता है जितना कि विहित या निषिद्ध आचरणद्वारा पुरुष कर पाता हो. तदनुसार फल प्रदान कर कर्म उस अंशमें पुनः तिरोहित हो जाता है. सर्वसाधारणतया एक कर्म स्वीकारनेसे सभी समस्याओंका समाधान मिल जाता हो तो प्रतिपुरुष भिन्न-भिन्न कर्मोंको स्वीकार आवश्यक नहीं लगता. तो एक ही कर्म किसीको सुख तो किसीको दुःख कैसे प्रदान कर सकता है? ऐसी शंकाका समाधान देते हैं अग्रभावी या पश्चाद्भावी होनेके प्रभेदवश द्वारा. कर्मके एक होनेका प्रमाण है सृष्टिमें सर्वसाधारण होना यह, “काल कर्म और स्वभाव...” (भाग.पुरा.२।५।२१) इस वचनके आधारपर सृष्टिकालमें जितना रूप उसके द्वारा प्रभावित होता हो उतना ही अंश कर्मका प्रकट होता है. कर्ममें भी चिदंश और आनन्दांश तिरोभाव आदि जैसे कालमें होते हैं वैसे ही समझ लेने चाहिये जैसे सभी वस्तु काल आदि द्वारा. इस विषयमें कर्मकी कुछ अपनी विशेषता ये हैं सभी कर्मके आधीन, जहां जो कालके आधीन होता है कर्म उसे भी अपने आधीन बना लेता है अन्यको नहीं.

अक्षरब्रह्मके रूपान्तर ऐसे स्वभावका निरूपण :

अवतरणिका :

एवं कर्म निरूप्य स्वभावं निरूपयति :

कारिका :

(४४) इच्छामात्रप्रकटनं सर्वथा तत् तिरोहितम् ॥

(४५) सर्ववस्त्वाश्रितं पश्चात् स्वभावो अयं हरेः तनुः ॥११३॥

(४६) वस्तुद्गमतिरोभावैः तथा सत्त्वादिभिः पुनः ॥

(४७) परिणामस्तु तत्कार्यं सर्वानुभवसाक्षिकम् ॥११४॥

(४८) सामान्यतो विशेषेण न प्रकाशः कदाचन ॥

(४९) एवं कालस् तथा कर्म स्वभावो हरिरेव सः ॥११५॥

(५०) अतस् तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिद् उदाहृतः ॥

(५१) सर्वसाधारणत्वेन न तत् तत्त्वं तदेव तत् ॥११६॥

भावानुवाद :

स्वभाव तो सर्वथा तिरोहित ही होनेपर भी भगवदिच्छाके वश कभी-कहीं प्रकट हो जाता है ॥

यह स्वभाव श्रीहरिकी कायाकी तरह सभी वस्तुओंको अपने पीछे छुपा कर उनमें भरा रहता है ॥११३॥

किसी भी वस्तुके सत्त्वरजस्तमो गुण या क्रिया-ज्ञान आदिद्वारा होते उद्गम या तिरोभाव के कारण ॥

सभीको अनुभूत होता स्वभाव परिणामतया प्रकट होता है ॥११४॥

स्वभाव किसी विशेषरूपमें नहीं परन्तु सामान्यतया प्रकाशित होता है ॥

इस तरह काल कर्म तथा स्वभाव ये सभी भगवान्के ही विविध रूप हैं ॥११५॥

अतएव शास्त्रोंमें अनेकत्र इनके प्रकट होनेका निरूपण उपलब्ध नहीं होता ब्रह्म या भगवान् के कारण होनेके निरूपणसे गतार्थ होनेके कारण ॥

ये तीनों काल-कर्म-स्वभाव सभी तत्त्वोंके साथ साधारणतया जुड़े हुवे होते हैं. अतः इन्हें तत्त्व मानने स्वयं भगवान् ही समझ लेना आवश्यक है ॥११६॥

प्रकाश :

इच्छामात्र... इति, भगवदिच्छारूपेण प्रकटो भवति, न सच्चिदानन्दरूपेण. तस्य स्वरूपं व्यवहारोपयोगि आह सर्ववस्त्वाश्रितम्

इति, तद्रूपं जगदाधारं स्वांशभेदेन तत्र तिष्ठतीति तत्रापि न लीनो, नापि वस्तुनः पश्चाद्भागे तिष्ठति किन्तु पश्चाद्भागे सर्वं स्थापयित्वा स्वयमेव प्रकटो भवति. यथा स्वभावदुष्टानां ज्ञानादिकं तिरस्कृत्य स्वरूपेण प्रकटः. तद् आह पश्चाद् इति, एतस्य कार्यवत् स्वरूपं मा भवतु इति आह हरेः तनुः इति. अस्य आविर्भावतिरोभावयोः उपपत्तिम् आह वस्तुदग्मः... इति, अस्य उदग्मतरोभावयोः वस्तु नियामकं तथा सत्त्वादिगुणाः ज्ञानं कर्म च. अतो बहुधा उदग्मः. तस्य द्रव्याविर्भावेणापि आविर्भावः. विरोधिगुणप्रादुर्भावे पूर्वस्वभावो निवर्तते अन्यः च उदेति. तथा मन्त्रशास्त्रादिभिरपि. अतो बहुधा उदग्मतरोभावौ. तस्य सद्भावे अर्थापत्तिं प्रमाणयति परिणामस्तु इति, स्वभावस्य परिणामएव कार्यम्. अतः स्वभावः सर्वदा अनुमानगम्यो न कदाचिदपि प्रत्यक्षः इति आह सामान्यतः इति. उपसंहरति एवम् इति. तत्त्वाधिक्यपरिहाराय आह हरिरेव सः इति, स कालादिः हरिरेव. तत्र उपपत्तिम् आह अतः तदुदग्मः इति. शास्त्रे भागवते. तथापि कारणत्वात् तत्त्वता भविष्यति इति आशङ्क्य आह सर्वसाधारणत्वेन इति, यथा भगवान् सर्वसाधारणत्वाद् न तत्त्वकोटौ प्रविशति तथा कालादिरपि, भगवत्त्वेनैव उपपत्तौ न पृथक्त्वम्.

अनुवाद :

इस तरह कर्मके निरूपणके बाद स्वभावका निरूपण करते हैं :

भगवदिच्छा... इत्यादि, भगवदिच्छाके रूपमें प्रकट होता है नकि सच्चिदानन्द होनेके रूपमें. स्वभावका स्वरूप व्यवहारोपयोगी होता है सभी वस्तुओंको अपने पीछे छुपा कर भरा रहता है, यह स्वभाव जगत्का आधारभूत ऐसा भगवान्का रूप है जो अपने अंशभेदोंके साथ सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी छिपा हुआ रहता है, स्वभाव वस्तुओंके पीछे नहीं छिपता प्रत्युत सभी वस्तुओंको अपने पीछे छुपाके रखता है. उदाहरणतया जो स्वभावसे दुष्ट होते हैं उनके ज्ञान आदि सभी अच्छी बातें स्वभाववश प्रकट नहीं हो पाती. यही बात समझाते

हैं सभी वस्तुओंको पीछे छुपा कर इत्यादि, तब तो स्वभावको कार्यकी तरह मानना चाहिये ऐसी शंकाका समाधान करते हैं श्रीहरिकी कायाकी तरह द्वारा. स्वभावके आविर्भाव या तिरोभाव की उपपत्ति दिखलाते हैं किसी भी वस्तुके... उदग्मः... द्वारा, स्वभावके उदग्म और तिरोभाव में वस्तु नियामक बनती हैं, जैसे, सत्त्वजस्तमो गुण या ज्ञान अथवा कर्म भी. अतो स्वभावका अनेक रीतिसे होता है. स्वभावका आविर्भाव जैसे वस्तुभूत द्रव्योंके आविर्भूत होनेपर होता वैसे ही विरोधी गुणोंके प्रादुर्भूत होनेपर पूर्वसिद्ध स्वभाव निवृत्त भी हो जाता है और दूसरा कोई स्वभावांश प्रकट हो जाता है. इसी तरह मन्त्रशास्त्र आदिद्वारा भी स्वभावान्तर प्रकट होता हुआ पाया जाता है. अतः स्वभावका प्राकट्य या तिरोधान अनेक प्रकारसे होता है. स्वभावके स्वरूपकी सत्ताके साधनार्थ अर्थापत्ति प्रमाणतया प्रस्तुत करनेको कहते हैं परिणामतया इत्यादि द्वारा, किसी एक वस्तुका अन्यरूपोंमें परिणत हो पानेमें स्वभाव ही नियामक कारण होता है. अतः स्वभाव सर्वदा अनुमानगम्य होनेके कारण कभी भी प्रत्यक्षगोचर नहीं होता यह कहते हैं सामान्यतया द्वारा. काल-कर्म-स्वभावके निरूपणोंके उपसंहरार्थ कहते हैं इस तरह. जो तत्त्वगणना की गयी है उनमें काल-कर्म-स्वभावके अधिक तत्त्वोंका समावेश करना आवश्यक नहीं है यह समझानेको कहते हैं भगवान् श्रीहरिके ही विविध रूप हैं, इन काल आदि तीनों रूपोंमें श्रीहरि स्वयं ही प्रकट होते हैं. इस बारेमें उपपत्ति यही है कि शास्त्रोंमें बहुधा इनका उदग्म या तिरोभाव निरूपित नहीं किया गया. शास्त्र यानि श्रीभागवतपुराण. फिरभी सृष्टिमें कारण बनते होनेके कारण इन्हें तत्त्वान्तर मानना कि नहीं? समाधानार्थ कहते हैं सभी तत्त्वोंके साथ साधारणतया जुड़े होते हैं, स्वयं भगवान्को, जैसे सृष्टिघटक तत्त्वोंसे भिन्न कोई तत्त्व माना नहीं जा सकता वैसे ही इन काल-कर्म-स्वभावको भी, भगवान्के रूपमें इन्हें मान लेनेपर अन्य किसी उपपत्तिकी अपेक्षा रह नहीं जाती.

कार्योके अवान्तरगणोंका प्रभेद व्यष्टि और समष्टि के उपभेदोंमें :

अवतरणिका :

एवं कारणं निरूप्य कार्यज्ञानार्थं तस्य अवान्तरभेदान् आह :

कारिका :

(५२) आनन्त्येऽपि हि कार्याणां गणभेदो द्विधा मतः ॥

(५३) समष्टि-व्यष्टि-भेदेन केवले जडजीवता ॥११८॥

भावानुवाद :

वैसे तो कार्य असंख्य होनेपर भी दो तरहसे गणोंका विभाजन मान्य है ॥

सामान्यतया समष्टि और व्यष्टि ऐसे दो प्रभेद होते हैं परन्तु गणशः न देख कर केवल स्वरूपतः देखना हो तो जड़ और जीव ऐसे दो भेद होते हैं ॥११८॥

प्रकाश :

आनन्त्येऽपि इति, यद्यपि घटपटादिप्रकारेण ज्ञानम् अशक्यं तथापि सर्व कार्यं राशिद्वयात्मकं : १. समष्टिरूपं २. व्यष्टिरूपं च. तच्च जडजीवात्मकं, न आनन्दांशः तत्र प्रविशति. अतः केवलप्रकारेण विभागे क्रियमाणे जड़ो जीवः च भवति, नतु ततो अतिरिक्तं किञ्चित्.

अनुवाद :

इस तरह कारणके निरूपणके बाद अब कार्योका स्वरूप समझानेको उनके अवान्तरभेदोंके बारेमें कहते हैं :

असंख्य होनेपर भी, यद्यपि घड़ा या कपड़ा आदि अनेक प्रकार कार्योके कितने होते हैं ये सोच पाना भी शक्य नहीं फिरभी सभी कार्योको दो राशिओंमें विभाजित किया जा सकता है : १. कार्योका समष्टिरूप और २. कार्योका व्यष्टिरूप. ये दोनों जड़ या जीव ही

होते हैं आनन्दांशरूप नहीं. इसकी उपपत्ति यही है कि आनन्दांश इनमें प्रविष्ट नहीं होता. अतः केवल स्वरूपके प्रकारका विचार करनेपर जड़ और जीव होते हैं, इनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं.

कार्यकोटीमें सात्त्विक आदिकी त्रयी आधिदैविक आदिकी त्रयी ये प्रभेद भी सोचे जा सकते हैं :

अवतरणिका :

कार्ये त्रैविध्यं निरूपयितुम् आह :

कारिका :

(५४) सर्वेषां त्रिगुणत्वाद् हि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः ॥

(५५) आधिदैविकम्-अध्यात्मम्-अधिभूतम् इति स्मृताः ॥११९॥

भावानुवाद :

त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे प्रकट होनेवाले सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक ही होते हैं अतः इस दृष्टिकोणसे तीन भेद भी माने जा सकते हैं ॥

आधिदैविक अध्यात्मिक और अधिभौतिक प्रभेद माने जा सकते हैं ॥११९॥

प्रकाश :

सर्वेषाम् इति, गुणानामपि त्रैविध्ये हेतुः अग्रे वक्तव्यः. भेदान् आह आधिदैविकम् इति, अधिष्ठाता स्वतन्त्रो 'देवः' इति, उच्यते, अभिमन्ता 'आत्मा'; अनयोः मध्ये अभिसम्भवति सो 'अधिभूतः'.

अनुवाद :

कार्योमें त्रिविधता भी सोची जा सकती है इसका निरूपण :

सभी पदार्थ गुणोंकी संख्या तीन होनेका हेतु आगे समझाया जायेगा. भेद यहां समझाना है आधिदैविक इत्यादि, जो स्वतन्त्र

अधिष्ठाता हो उसे 'देवः' कहा जाता है, जिसमें अभिमान प्रकट होता हो उसे 'आत्मा' कहा जाता है. इन दोनोंके मध्यपाती कार्य अभिसम्भूत होनेके कारण 'अधिभूतः' कहे जाते हैं.

अवतरणिका :

त्रयाणाम् अभेदाय आह :

कारिका :

(५६) सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः ॥

(५७) व्यष्टिः समष्टिः पुरुषो जीवभेदास् त्रयो मताः ॥१२०॥

भावानुवाद :

देह जीव और ईश्वर रूपी तत्त्व क्रमशः सत् चित् और आनन्द रूप होते हैं ॥

जीवके पुनः व्यष्टि समष्टि और पुरुषो ऐसे तीन प्रभेद होते हैं ॥१२०॥

प्रकाश :

सच्चिदानन्दरूपेण इति, सद् अधिभूतम्, चिद् अध्यात्मम्, आनन्दो अधिदैवम् इति. उदाहरणम् आह देहजीवेशरूपिणः इति. देहो अधिभूतं, जीवो अध्यात्मा, ईशो अन्तर्यामी अधिदैवः, एवं स्वरूपभेदम् उपपाद्य समुदायेन प्रवृत्तौ कुत्र कस्य प्राधान्यम् इति आकांक्षायाम् आह व्यष्टिः इति. यद्यपि एते त्रयोऽपि पुरुषावताराः तथापि देहाभिमानिनः इति जीवभेदाः उच्यन्ते.

अनुवाद :

इन तीनोंका अभेद दरसानेको कहते हैं :

सत् चित् और आनन्द रूप इत्यादि, सत् अधिभूत बनता है, चित् अध्यात्म, आनन्द अधिदैव. इन्हें भलीभांति समझना हो

तो उदाहरणके साथ समझना हो तो देह जीव और ईश्वर के रूपोंमें सोचा जा सकता है. देह अधिभूत होता है, जीव अध्यात्मा, ईश्वर अन्तर्यामी अधिदैव होता है, यों स्वरूपभेदका उपपादन कर सामुदायिक रूपमें प्रवृत्त होनेपर कौन कहां प्रधान बनता है उसे समझना हो तो व्यष्टि कहा. यद्यपि ये तीनों ही पुरुष तत्त्वके तीन अवताररूप होते हैं फिरभी देहाभिमानि होना जीवात्मा होना है.

मूल ब्रह्म तत्त्वके ही अन्तर्यामी अक्षरब्रह्म और श्रीकृष्ण ये तीन रूपभेद होते हैं. इसी तरह इनके उपभेदोंका भी निरूपण :

अवतरणिका :

तत्रैव विद्यमानोऽपि अनभिमानित्वात् ब्रह्मेति एकत्रैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति प्रकारान् गणयति :

कारिका :

(५७)^१ अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्, ^२ तथा परे ॥

(५८) स्वभाव-कर्म-कालाः च, ^३ रुद्रो ब्रह्मा हरिस् तथा ॥१२१॥

भावानुवाद :

^१ अन्तर्यामी अक्षर कृष्ण ये ब्रह्मके तीन प्रभेद हैं, ^२ तथा दूसरे ॥

स्वभाव कर्म और काल, ^३ ब्रह्मा हरि और रुद्र यों तीन प्रभेद भी होते हैं ॥१२१॥

प्रकाश :

अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णः इति. यथा सारथी रथी तदन्तःस्थितः च; तथा, अन्तर्यामी अक्षरं कृष्णः. एवं सति पुरुषोत्तमत्वेन सर्वत्र दर्शनं भवति. परं ब्रह्मैव त्रिप्रकारेण वर्तते इति त्रयो भेदाः. त्रयाणां प्रत्येकं बहून् भेदान् आह स्वभाव इति, अक्षरस्य स्वभावकर्मकालाः भेदाः, रुद्रादयः कृष्णस्य. अन्तर्यामिणः सर्वत्र भिन्नतयैव स्थितत्वात् न भेदान् आह.

अनुवाद :

कहीं नियामकतया विद्यमान होनेपर भी वहां अभिमान प्रकट न करनेवाले ब्रह्म होनेके कारण एक ही स्थानपर वह तीन तरह रह सकता होनेसे उसके प्रकार गिनाये जाते हैं :

अन्तर्यामी अक्षर कृष्ण इत्यादि. जैसे किसी रथमें कोई सारथी दूसरा रथी और तीसरा उसके भीतर जुड़नेवाला भी ऐसे, अक्षर श्रीकृष्ण और अन्तर्यामी को समझना चाहिये. इस तरह सोचनेपर सभीके बारेमें पुरुषोत्तम होनेके दर्शन सम्भव हो पाते हैं. परंब्रह्म ही तीन प्रकारके स्वरूप प्रकट करता है अतः तीन तरहके प्रभेद माने जाते हैं. इन तीनोंके पुनः अवान्तर प्रभेद तो बहुत सारे हो सकते हैं यथा स्वभाव, यों अक्षरब्रह्मके स्वभाव कर्म और काल प्रभेद होते हैं, श्रीकृष्णके ब्रह्मा विष्णु और रुद्र. अन्तर्यामी तो सर्वत्र अनेकानेक संख्याओंमें प्रकट होता होनेसे उसके प्रभेद गिनाये नहीं जा सकते.

जीवात्मा अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तम की विभिन्न शक्तिओंके प्रभेदोंका निरूपण :

अवतरणिका :

त्रयाणां शक्तिभेदान् आह :

कारिका :

(५९) अविद्या प्रकृतिर् माया निद्रा चिन्ता इन्द्रजालता ॥

(६०) महत्तत्त्वं ब्रह्मरूपम् अस्मत् चित्तं तथैव ॥१२२॥

भावानुवाद :

अविद्या प्रकृति माया निद्रा चिन्ता इन्द्रजाल ॥

ब्रह्मरूप महत् तत्त्व और हमारा चित्त भी ॥१२२॥

प्रकाश :

अविद्या इति, अविद्या जीवस्य, प्रकृतिः अक्षरस्य, माया कृष्णस्य.

उपलक्षणविधया अविद्यायाः भेदान् आह निद्रा इति. एवं प्रकृतिपुरुषपर्यन्तम् उपरिस्थितानां भेदान् उक्त्वा महदादीनाम् आह महत्तत्त्वम् इत्यादिना. महत्तत्त्वम् आधिदैविकस्थानीयं, द्वितीयं ब्रह्मशरीरं, तृतीयम् अस्मदादीनां चित्तम्. अनेन “अन्येषां च अनुपलब्धेः” (ब्र.सू. १. १.) इति भगवत्सिद्धान्ते दोषः परिहृतः.

अनुवाद :

तीनोंकी अनेकविध शक्तिओंके प्रभेद कहते हैं :

अविद्या ये अविद्या जीवकी शक्ति है, प्रकृति अक्षरब्रह्मकी शक्ति होती है, माया श्रीकृष्णकी शक्ति होती है. अविद्या तो उपलक्षणतया दरसायी गयी अन्यथा उसके प्रभेद निद्रा इत्यादि हैं. यों प्रकृतिपुरुषपर्यन्त और इनसे परे ऐसे पदार्थोंके प्रभेद दिखला कर महद् आदिके प्रभेद दिखलाते हैं महत् तत्त्व इत्यादिद्वारा. महत् तत्त्व आधिदैविकस्थानीय होता है, वह ब्रह्मके एक दूसरे शरीरके रूपमें प्रकट होता है, तीसरा हम जीवात्माओंका चित्त होता है. अतः “अन्ये(इतरे)षां च अनुपलब्धेः” (ब्र.सू.२।१।२) इस वेदान्तसूत्रके अनुसार भगवद्रूपताके सिद्धान्तमें किसी भी दोषकी सम्भावना नहीं.

उस महत् तत्त्वकी रूपान्तरभूत बुद्धिका निरूपण :

कारिका :

(६१) बुद्धेः वृत्तिः=स्थितिर् नाम गुणतः सा त्रिधा मता ॥

(६२) अतो जागरणादीनि जीवस् तद्वशगो यतः ॥१३७॥

भावानुवाद :

बुद्धिकी वृत्ति=प्रकृतिके तीन गुणोंको अनुसारी अवस्था तीन तरहकी होती है ॥

अतएव जागरण स्वप्न और सुषुप्ति रूपा जीवात्माको अपने भीतर अपनी तीन अवस्था अनुभूत होती हैं क्योंकि

जीवात्मा उस प्रकृतिके पराधीन हो जाता है॥१३७॥

प्रकाश :

बुद्धिवृत्तिः जन्यते, इत्यत्र, वृत्तिः बुद्धेः पदार्थान्तरं न भवति किन्तु स्थितिरेव सत्त्वादिभिः. अतएव भ्रमादीनामपि संग्रहः. यदि इन्द्रियैः जन्या न स्याद् घटे क्वापि तदा भ्रमो न स्यात्. जीवस्य च गुणतो अवस्थात्रयं भिन्नहेतुकं स्यात्. अतो गुणवशाद् यथा बुद्धिः भवति तथैव मन्तव्यम् इति. अतएव जीवस्यापि न स्वातन्त्र्यं, गुणाधीनत्वात्.

अनुवाद :

जीवात्माके भीतर बुद्धिवृत्ति प्रकट होती है, इसमें, बुद्धिकी वृत्तिको बुद्धिसे पृथक् पदार्थ नहीं मानना चाहिये किन्तु प्रकृतिके सत्त्वरजस्तमो गुणोंके अनुरूप तीन अवस्था ही होती हैं. अतएव बुद्धिमें पैदा होनेवाली भ्रम आदि वृत्तिओंका भी संग्रह द्योतित हो गया. बुद्धिकी भ्रमवृत्ति इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाली न होती तो बाह्य घड़ा जैसे विषयोंके बारेमें किसीके भीतर कहीं भ्रम पैदा नहीं हो पाता. जीवोंको अपनी अवस्थाओंके जागरणादि वृत्तिओंकी तरह भ्रम आदि भी स्वतः किन्हीं अन्य हेतुओंके कारण प्रकट होते या निवृत्त होते होने चाहिये थे. अतः प्रकृतिके तीन गुणोंके वशात् बुद्धिमें ये अवस्था पैदा होती मानी जानी चाहिये. जीव, अतएव, स्वतन्त्र भी माना नहीं जा सकता गुणोंके आधीन होनेके कारण.

सुख दुःख लज्जा काम आदिके उत्पत्ति और स्वरूप का प्रतिपादन :

अवतरणिका :

एवं ज्ञानस्य उत्पत्तिं निरूप्य सुखदुःखयोरपि ज्ञानफलयोः उत्पत्तिं निरूपयति :

कारिका :

(६३) सुखदुःखसमुत्पत्तिः नित्या ब्रह्मसुखात् पृथक् ॥

(६४) अन्धन्तमः प्रवेशात् च ह्रीच्छादीनां च सर्वशः ॥१३८॥

भावानुवाद :

ब्रह्मके सुखसे पृथक्त्वा अनुभूत होते सुखदुःखोंकी उत्पत्ति सदा होती ही रहती है॥

अन्धन्तम नरकमें पातके रूपमें भी सदा दुःखकी उत्पत्तिकी तरह लज्जा इच्छा आदिकी भी उत्पत्ति सदा होती ही रहती है॥१३८॥

प्रकाश :

सुखदुःखसमुत्पत्तिः इति. नित्या, न विवादास्पदम् इति अर्थः. ब्रह्मसुखमपि तथा भविष्यति इति आशंक्य आह ब्रह्मसुखाद् इति. दुःखार्थम् आह अन्धन्तमः प्रवेशाद् इति, अन्धन्तमो नित्यम् असुराणां फलम्. तथा ह्रीच्छादीनामपि भगवद्धर्मव्यतिरिक्तानाम् उद्भवएव.

अनुवाद :

इस तरह ज्ञानकी उत्पत्तिके निरूपणके बाद ज्ञानके फलरूप सुखदुःखोंकी भी उत्पत्तिका निरूपण :

सुखदुःखोंकी उत्पत्ति इत्यादि. सदा अर्थात् अविवादास्पदतया होती ही है. ब्रह्मसुखके बारेमें यही निर्णय कोई न ले ले इसलिये कहते हैं ब्रह्मके सुखसे इत्यादि. इसी सन्दर्भमें दुःखके बारेमें भी खुलासा देते हैं अन्धन्तम नरकमें प्रवेश इत्यादि द्वारा, दुर्ज्ञ आसुरी जीवोंके लिये यह नित्यदुःखरूप फल होता है. इसी तरह लज्जा इच्छा आदिकी भी परन्तु ये यदि भगवद्धर्मरूप न हों तभी उत्पत्ति होती ही रहती है.

अवतरणिका :

अनुक्तसमुच्चयार्थम् आह :

कारिका :

(६५) मनोधर्माः च ये च अन्ये भगवत्संगवर्जिताः ॥

(६६) उत्पद्यन्ते विलीयन्ते घटादिरिव न अन्यथा ॥१३९॥

भावानुवाद :

भगवान्के संगसे रहित जो अन्य भी मनोधर्म होते हैं ॥

वे सभी उत्पन्न होते रहते हैं और विलीन होते रहते हैं, जैसे जागतिक घड़ा आदि वस्तु बनती-बिगड़ती रहती हैं ॥१३९॥

प्रकाश :

मनोधर्माः इति, भगवद्धर्माः मनोधर्माः च तुल्याः भवन्ति, ननु एकविधाः. नित्या भगवद्द्रूपाः भगवद्धर्माः—अनित्याः कार्यरूपाः मनोधर्माः—इति. अनेन “सो अकामयत” (तैत्ति.उप.२।६) इत्यत्र दोषः परिहृतः.

अनुवाद :

अनुक्तके समुच्चय करनेके लिये कहते हैं :

मनोधर्म इत्यादि, वैसे तो मनोधर्म भी भगवद्धर्मकी तरह अनेकविध होते हैं. परन्तु भगवद्धर्म भगवद्द्रूप नित्य होते हैं—मनोधर्म कार्यरूप अनित्य होते हैं—इतना तारतम्य है. इससे “उस परमात्माने कामना की” (तैत्ति.उप.२।६) ऐसे वचनोंमें निरूपित भगवत्काममें लौकिक दोष नहीं होते यह सिद्ध हुआ.

ब्रह्मकी स्वरूपकोटि हो या कार्य या कारण की कोटि, तत्त्वदृष्टिसे वैसे तो सभी नित्य होनेपर भी सृष्टिमें अपना आविर्भाव-तिरोभाव दर्सानेवाली शक्तिओंके कारण किन्हीं नाम-रूप-कर्मोंका उद्भव या अनुद्भव भी सिद्ध होता है :

अवतरणिका :

एवं सर्वेषां तुल्यताम् उपपाद्य घटादीनामपि ब्रह्मत्वाद् नित्यता इति वक्तुं युक्तिम् आह :

कारिका :

(६७) आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः ॥

(६८) भक्त्यातु आद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद् हरौ सदा ॥१४०॥

भावानुवाद :

मुरवैरी श्रीकृष्णकी आविर्भाव और तिरोभाव करनेकी दो स्वयंकी शक्तियां हैं ॥

भक्तिद्वारा, श्रीकृष्ण, फिरभी सदा आविर्भूत हो पाते हैं और भक्ति न होनेपर तिरोहित भी ॥१४०॥

प्रकाश :

आविर्भावतिरोभावौ इति, ‘आविः’=प्रकटं भावयति इति आविर्भावः. आविर्भवनं वा धर्मः. तथा तिरोभवनम्. एते भगवतः शक्ती अनन्तशक्तित्वाद् भगवतः. अन्यथा बीजादिपरिणामानां देहादिभावे को हेतुः स्याद्. तस्माद् भगवच्छक्तिरेव कारणत्वेन वक्तव्या धर्माद् धर्मिसिद्धौ कारणं भवति. [अत्र इदं प्रतिभाति : द्वितीयपक्षे आविर्भवनरूपाद् धर्मादेव घटादेः आविर्भावरूपधर्मसिद्धौ सत्याम् आविर्भावरूपधर्मएव कारणम्. ननु अस्य धर्मरूपत्वाद् धर्म्याश्रयो वाच्यः. तथा सति घटादेरपि पूर्वसत्त्वात् आविर्भावतिरोभावयोरपि भगवच्छक्तित्वेन नित्यत्वात् सदैव आविर्भावतिरोभावपत्तेः न एवं पक्षः साधीयान् तत्र आह अन्यथा इति, इच्छाशक्तिसहकारेण अनुपपत्तिपरिहारः. स्वमते उक्तन्यायेन सर्वेषां हरिरूपत्वाद् अद्वैतश्रुतिः अत्र साधिका. : (इति श्रीमत्प्रभुचरणानां प्रक्षेपः)] अन्यथा उत्पत्तिपक्षेऽपि दोषः तुल्यः : ‘उत्पत्तिः’ नाम कश्चन धर्मः. स कस्मिन् धर्मिणि भवेद्? इति अनवस्था च स्यात्. कालसम्बन्धोऽपि धर्मः. अतो यः कश्चिद् निरुच्यतां, सो अवश्यं धर्मएव भवतीति धर्मी पूर्वसिद्धो वक्तव्यः. घटो

भवतीति कर्तरि प्रयोगः च अनुपपन्नः स्यात्. “‘भू’=सत्तायाम्” (धा.पा.१।१) इति धात्वर्थः च असंगतः स्यात्. “अनुपपन्नो घटो—नष्टो घटः” इति व्यवहारः च असंगतः स्यात्. अतो धर्मी सदातनो वक्तव्यः. स भगवानेव भवति, न अन्यः इति. अद्वैतश्रुतेश्च धर्मिणा भगवत्त्वं अंगीकर्तव्यम्. तदनु धर्माणामपि तेनैव न्यायेन भगवत्त्वं सेत्स्यति. अतो भ्रान्तानां बालानां विचारसामर्थ्याभावाद् शब्दार्थी उल्लंघ्य उत्पत्त्यादिनिरूपणं न दूषयामः. मुरवैरिणः इति, मुरो दैत्यः पापात्मकः तन्निवर्तनार्थम् आविर्भावो भगवतः. तथा सर्वत्र सर्ववस्तुस्वरूपेण तदनुद्गमे प्राप्तदोषपरिहारार्थं तदुद्गमः इति सूचितम्. दुःखन्तु निर्वृत्यभावः इति तिरोभावफलत्वाद् न व्यभिचारः. एवं सति सर्वसाधनवैयर्थ्यम् आशङ्क्य शक्तिद्वयस्य तदधीनत्वं वक्तुम् आदितः आरभ्य निरूपयति. भक्त्या तु आद्यः इति, भक्त्यैव भगवान् आविर्भवति. तच्च यस्य भक्त्या आविर्भावः सा भक्तिः यादृशी देशकालयुक्ता तत्तिरोभावे तिरोभवति, नतु अवतारेष्वपि अन्यः प्रकारः इति अर्थः.

अनुवाद :

इस तरह सभी कुछ साधारणतया ब्रह्मात्मक हो तो घड़ा आदि लौकिक पदार्थ भी नित्य होने चाहियें, इस बारेमें युक्ति :

आविर्भाव और तिरोभाव इत्यादि, ‘आवि’=प्रकट बनाना=करना आविर्भाव. अथवा आविर्भूत होना उनका धर्म है. इसी तरह तिरोभूत होना. ये दोनों भगवान्की शक्तियां अनन्तशक्तियोंसे भगवान्के सम्पन्न होनेके कारण. अन्यथा धान्यके बीज आदिके परिणामतया देह आदि कैसे प्रकट हो सकते हैं? इसलिये भगवान्की कोई शक्ति ही कारण बनती होनी स्वीकारनी चाहिये, धर्मिक कारण धर्मी सिद्ध होता होनेसे [यहां दूसरे पक्षके बारेमें ऐसा लगता है : आविर्भवन रूप धर्मिक कारण ही घट आदि धर्मिरूप विषयोंका आविर्भावकरूप धर्म सिद्ध होता हो तो आविर्भावरूप धर्म ही कारण होना चाहिये. शंका उठायी जा सकती है कि यह यदि धर्मरूप हो तो कोई आश्रयरूप धर्मी पहले होना चाहिये. तब तो अपने आविर्भावसे पहले भी घट आदि पूर्वसिद्ध

हो जायेंगे! इसके अलावा आविर्भाव और तिरोभाव भी तो भगवान्की शक्ति होनेके कारण नित्य होने चाहिये अतः सदैव सभीका आविर्भाव भी तिरोभाव भी होते ही रहना चाहिये! ऐसा पक्ष सिद्ध तो नहीं हो सकता. अतः समाधान देते हैं “अन्यथा धान्यके बीज आदिके परिणामतया देह आदि कैसे प्रकट हो सकते हैं?” इस वचनद्वारा, अर्थात् आविर्भाव या तिरोभाव केवल धर्म होनेके कारण नहीं प्रत्युत भगवान्की इच्छारूपा शक्तिके भी सहकारके कारण इच्छाके अनुसार वस्तु आविर्भूत या तिरोहित होती है. अतः अनुपपत्तिका परिहार हो जाता है. स्वमतमें उक्त न्यायके अनुसार सभी कुछ भगवद्रूप होनेके कारण अद्वैतश्रुति(“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म”) यहां साधिका हो जाती है : (श्रीमत्प्रभुचरणोंद्वारा इतना यहां बीचमें जोड़ा गया है)].

ऐसा न मानें तो न केवल आविर्भाववादी पक्षमें अपितु उत्पत्तिवादी पक्षमें भी ऐसी अनुपपत्ति दिखलायी जा सकती है. क्योंकि ‘उत्पत्ति’ का मतलब क्या? क्या वो कोई धर्म है? यदि हां तो उसका धर्मी कौन? अतः उत्पन्न होनेसे पहले वह धर्मी सिद्ध नहीं होगा और धर्मिक बिना उत्पत्तिरूप धर्म सिद्ध नहीं हो पायेगा यों अनवस्था हो जायेगी. यदि उत्पद्यमान वस्तुका कालसे जुड़ना उत्पत्ति मानें तब भी जुड़नेवाली वस्तुका जुड़नेसे पहले होना आवश्यक होता है, धर्म होनेके कारण. अतः किसी भी रूपमें उसे परिभाषित किया जाये उसे धर्म तो मानना ही पड़ेगा और तब उससे पहले ही धर्मिका सिद्ध होना भी मानना पड़ेगा. “घड़ा उत्पन्न होता है” विधानमें भी उत्पन्न होनेवाला स्वयं पूर्वसिद्ध न हो तो उत्पत्तिकी क्रिया जुड़ेगी किसके साथ? “‘भू’=सत्ता” (धा.पा.१।१) इस धातुपदका अर्थ भी असंगत हो जायेगा. “घड़ा अभी उत्पन्न नहीं हुवा—घड़ा नष्ट हो गया” ऐसे वचनव्यवहार भी असंगत हो जायेंगे. अतः सदा विद्यमान कोई धर्मी स्वीकारना अपरिहार्य लगता है. और वैसे धर्मी तो भगवान् ही हो सकते हैं, अन्य कुछ नहीं. अद्वैतका प्रतिपादन करनेवाली

श्रुतिके आधारपर भी उत्पत्तिरूप धर्मके धर्मितया भगवान्को अंगीकार करना आवश्यक है. ऐसा अंगीकार करनेपर धर्मोंका भी भगवद्रूप होना सिद्ध हो जायेगा. अतः विचार करके कुछ बोलनेकी सामर्थ्य न होनेके कारण शब्दमर्यादा और तत्त्वमर्यादा का उल्लंघन करनेवाले बच्चों या भ्रान्तों ने जो उत्पत्ति आदिकी प्रक्रिया दरसायी, उसका निराकरण आवश्यक नहीं लगता. **मुरवैरि** नामके प्रयोगद्वारा यह ध्वनित होता है कि मुर दैत्य पापात्मक था, उसे दूर खतम करनेको भगवान्का जैसे आविर्भाव हुवा, वैसे सर्वत्र किसी वस्तुस्वरूपका उद्गम न हो पाता हो तो, उसके ऐसे दोषके निवारणार्थ भगवान् उस रूपमें प्रकट हो जाते हैं. दुःख तो आनन्दका अभाव है और वह तिरोभावके फलस्वरूप प्रकट होता होनेसे इस नियममें कोई व्यभिचार नहीं.

फिरभी ऐसे मतको स्वीकारनेपर किसी भी साधनकी कोई सार्थकता ही नहीं रह जायेगी, ऐसी आशंकाके परिहारार्थ दोनों शक्तिओंका भगवान्के आधीन होना समझानेको शुरुआतसे निरूपण करनेको कहा भक्तिरूप साधनद्वारा भगवान्का आविर्भाव होता है, भगवान् तो भक्तिके कारण ही आविर्भूत होते हैं.

वह भक्ति जिसकी जैसी हो, और जिस देश या काल के साथ जुड़ी हुयी हो, उसके तिरोहित होनेपर भगवान् भी तिरोहित हो जाते हैं. भगवान्के अवतारोंके बारेमें इसके अलावा दूसरा कोई प्रकार नहीं होता.

अवतरणिका :

अन्येषु आह :

कारिका :

(६९) सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामि इति या हरेः ॥

(७०) वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवति अजः ॥१४१॥

(७१) मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम् ॥

(७२) मूलेच्छातस् तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेः तदा ॥

(७३) तिरोभावस् तथैव स्याद् रूपान्तरविभेदतः ॥१४२॥

भावानुवाद :

सभी आकारोंके स्वरूपोंमें प्रकट होनेकी श्रीहरिकी इच्छाके कारण ॥

वह अज होनेपर भी जहांसे जिसके द्वारा जैसे प्रकट होना चाहते हैं तब ॥१४१॥

स्वयंके मृत्तिका आदि रूपोंसे घट आदि आकारोंसे संयुत ॥

स्वयंकी मूलेच्छाके कारण वहां तब वैसे प्रादुर्भाव हो जाता है ॥

रूपान्तर धारण करनेकी भिन्न प्रकारकी इच्छाके कारण तिरोभाव भी इसी तरह होता है ॥१४२॥

प्रकाश :

सर्वाकाररूपेण इति. तत्तदाकारस्वरूपेण घटपटाद्याकारेण यस्मिन् देशे येन प्रकारेण येन साधनेन यथा आविर्भावेच्छा तथा सर्वं सम्पाद्य आविर्भवति इति अर्थः. तत्र निदर्शनम् आह मृदादि इति, मृदि घटादयो यावन्तो भविष्यन्ति ते सर्वे कारणत्वेन वर्तन्ते इति अंगीकर्तव्यम्. अन्यथा, ततः प्रादुर्भावो न उपपद्येत. ततः सामर्थ्यं भगवत्त्वेन संगच्छते. अतो मृदादिकं भगवद्रूपमेव. घटादिकार्यं च तत्रैव लीनं तिष्ठति. तदपि भगवद्रूपं प्रपञ्चस्थानीयम्. ततः किम् अतः आह मूलेच्छातः इति, पुरुषोत्तमेच्छातः. तथा तथैव आनुपूर्व्या कार्यरूपहरेरेव प्रादुर्भावः इति अर्थः. यथा नटः सहस्राणि रूपाणि गृह्णाति क्रमशः तथा अत्रापि कटकमुकुटादयः. एवम् आविर्भावं निरूप्य तिरोभावं निरूपयति तिरोभावः इति, 'तिरोभविष्यामि' इति या इच्छा यथा येन तथा तत्र तिरोभवति, परं तत्र रूपान्तराविर्भावावश्यकत्वम्. इयानेव भगवतः सकाशात् प्रपञ्चे विशेषः.

तत्र तिरोभावेन रूपान्तराविर्भावः. दाहशोषादावपि रूपान्तरमिति मतम्. अथवा सर्वथा भगवता तुल्यता. वक्ष्यति च अग्रे “अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्” इति.

अनुवाद :

आविर्भावके अन्य प्रकारोंके बारेमें भी बता रहे हैं :

सभी आकारोंके स्वरूपमें इत्यादि. घट पट आदि तत्तद् आकारोंके स्वरूपमें जिस देशमें, जिस प्रकारसे, जिस साधनसे जैसे आविर्भावकी इच्छा हो वैसा सभी सम्पादित करके भगवान् आविर्भूत हो जाते हैं. इसीका निदर्शन देते हैं मृत्तिका आदि द्वारा, मृत्तिकामें जो या जितने घट आदि प्रकट होंगे वे सभी पहले कारणतया तो रहते ही हैं यह अंगीकार करना चाहिये. अन्यथा, मृत्तिकासे घटका प्रादुर्भाव उपपन्न नहीं हो पायेगा. अतः भगवद्रूपतया ऐसा सामर्थ्य संगत हो जाता है. अतः मृत्तिका आदि भगवद्रूप ही होते हैं. घट आदि कार्य भी अतएव मृत्तिका आदिमें लीन रहते हैं उत्पत्तिसे पहले. ये भी प्रपञ्चस्थानीय भगवद्रूप हैं. एतावता क्या फलित हुवा यह जतानेको कहते हैं मूलेच्छाके कारण अर्थात्, पुरुषोत्तमकी इच्छाके कारण. इस तरह मृत्तिका आदि कारणरूपोंसे घटआदि कार्यरूपोंके उदाहरणोंमें जो क्रमिकता=आनुपूर्वी प्रकट होती है तदनुसार कारणरूप श्रीहरिसे कार्यरूप श्रीहरिका प्रादुर्भाव होता है. जैसे कोई अभिनेता हजारों रूप धारण करता है वैसे ही यहां भी कड़ा या मुकुट आदि प्रकट होते हैं. इस तरह आविर्भावका निरूपण करके अब तिरोभावका निरूपण करते हैं तिरोभाव द्वारा, ‘तिरोभूत हो जाऊं’ ऐसी जो इच्छा तदनुसार वह जिस कारणसे वैसे वहां वह तिरोभूत हो जाता है, पर वहां रूपान्तरका आविर्भाव आवश्यक होता है. भगवान्के साक्षात् स्वरूपके साथ तुलना करनेपर इतना तारतम्य प्रपंचमें प्रतीत होता है कि प्रपंचमें तिरोभावके कारण रूपान्तरका नियततया आविर्भाव होता है(क्योंकि प्रापंचिक सभी वस्तु कार्य-कारणकी नियत शृंखलामें बंधी कोई कड़ीकी तरह होती

है, कोई भी अपनी उत्पत्ति-स्थिति या लय में आत्मतन्त्र नहीं होती). अतएव किसी वस्तुको जलाने या सुखाने पर भी कोई न कोई रूपान्तर तो प्रकट होता ही है. अथवा ब्रह्मके अखण्ड स्वरूपकी दृष्टिसे इस विषयको निहारनेपर सभी प्रापंचिक वस्तुओंको सर्वथा भगवान्के तुल्य भी माना जा सकता है. अतएव आगे जा कर यह कहना ही है कि “अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्”.

कार्यकोटिमें छ भावविकार रूपी वृद्धि आदिकी प्रक्रियाका स्वरूप :

अवतरणिका :

वृद्ध्यादीनां स्वरूपम् आह :

कारिका :

- (७४) वृद्धिर् विपरिणामः च तथा अपक्षयएव च॥
- (७५) पूर्वरूपतिरोभावो द्वितीयस्य आदिमः तथा॥१४३॥
- (७६) उभौ एकीकृतौ लोके वृद्ध्यादिभिर् उदीरितौ॥
- (७७) परिणामाधिक्यतः च वैजात्याद् न्यूनभावतः॥१४४॥
- (७८) मनश्च अन्नमयं वेदे तद् अस्माकम् अथापि वा॥
- (७९) पोषितत्वात् तदन्नेन तद्रूपेण उपवर्ण्यते॥१४५॥

भावानुवाद :

वृद्धि और विपरिणाम इसी तरह अपक्षय भी॥

मैं भी पूर्वरूपका तिरोभाव तथा दूसरे रूपका आविर्भाव होता है॥१४३॥

दोनोंके एकीकृत रूपोंको लोकमें वृद्धि आदि रूपोंमें कहा जाता है॥

परिणामकी अधिकताके कारण विजातीय होनेके कारण न्यूनभाव होनेसे॥१४४॥

मनको तो वेदोंमें अन्नमय माना गया है और वह तो हमारा भी ऐसा ही होता॥

क्योंकि अन्नसे उसका पोषण होता होनेके कारण
अन्नमय ही माना जाता है॥१४५॥

प्रकाश :

वृद्धिः इति द्वाभ्याम्, वृद्धौ अग्रिमरूपं परिमाणतो अधिकम्.
अपक्षये न्यूनम्. विपरिणामे विजातीयम् इति विशेषः. एवं कार्यरूपं निरूप्य
वेदविरोधपरिहारार्थम् आह मनश्च अन्नमयम् इति, “अन्नमयं हि सौम्य!
मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाग्” (छान्दो.उप.६।५।४) इति श्रुतेः.
अत्रच अहंकारकार्यत्वेन मनो निरूपितम्. तत्र सिद्धान्तद्वयं वेदनिरूपणप्रकाराद्
अवगम्यते. तद् आह तद् अस्माकम् इति. अथवा पञ्चदशोपवासाः
कारितेति अन्नेन पोषणमेव अभिप्रेतम्.

अनुवाद :

वृद्धि आदिका स्वरूप समझाते हैं :

वृद्धि इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा, वृद्धिमें अग्रिमरूप परिमाणतः अधिक
हो जाता है और अपक्षयमें न्यून. विपरिणाममें कुछ विजातीय प्रकट
होता है. इस तरह कार्यरूपके निरूपणके बाद इस प्रक्रियाके प्रतिपादनमें
वेदविरोधके परिहारार्थ कहते हैं मनको तो अन्नमय इत्यादि, “सौम्य!
मन अन्नमय होता है प्राण जलमय होते हैं, वाणी तेजोमयी होती
है” (छान्दो.उप.६।५।४) इस श्रुतिके आधारपर. यहां अहंकारके कार्यतया
मनका निरूपण अभिप्रेत है. वेदोंमें उपलब्ध होते निरूपणके आधारपर
दो तरहके सिद्धान्त सामने आते हैं. इसी बातको समझाते हैं वह
हमारा कह कर. अथवा क्योंकि ऋषिने जो पंदरह उपवास अपने
शिष्यको करवाये उसके द्वारा वह यही समझाना अभिप्रेत है कि
मन अन्नसे पोषित होता है.

स्वमतीय प्रमेयके प्रतिपादनका उपसंहारः :

अवतरणिका :

एवं सर्वत्र प्रकारभेदे समाधानम् अतिदिशति :

कारिका :

(८०) एवं सृष्टिप्रभेदेषु कल्पेषु च तथैव च ॥

(८१) प्रकारभेदाः दोषाय न भवन्ति तदिच्छया ॥१४६॥

भावानुवाद :

इस तरह बहुविध सृष्टिओं तथा कल्पों के प्रभेदोंके
वश ॥

बहुविध प्रक्रियाओंके भगवदिच्छाके कारण होते भेदोंको
मानना किसी तरह दोषावह नहीं ॥१४६॥

प्रकाश :

एवम् इति, अनेकधा भगवान् कार्यं करोतीति सृष्टिभेदानाम् उक्तत्वात्
तथा वा समाधानम्.

अनुवाद :

इस तरह सभी जगह कारभेदोंको मान लेनेसे सारे समाधान
जो शक्य हों उनका अतिदेश करते हैं :

इस तरह इत्यादि, भगवान् अनेक प्रकारोंकी लीला करते हैं
अतः लीलारूप होनेके कारण सृष्टि भी अनेक प्रकारकी हो सकती
है सो सारी बातोंका समाधान मिल जाता है.

वेद आदि शास्त्रोंमें प्रतिपादित उक्तविध प्रमेयके स्वरूपके बारेमें
प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके कारण भासित होते विरोधोंके परिहारका प्रकार :

अवतरणिका :

एवं प्रमेयं निरूप्य प्रत्यक्षबाधनिराकरणार्थं लौकिकप्रत्यक्षादेः
अप्रमाणत्वम् आह :

कारिका :

(८२) इन्द्रियाणां प्रमाणत्वं सत्त्वयोगाद् न च अन्यथा ॥

(८३) सत्त्वस्य तारतम्येन यार्थार्थ्यं वस्तुनः स्फुरेत् ॥

(८४) अतः प्रमाणगणना लोकेषु न विचार्यते ॥१४७॥

भावानुवाद :

इन्द्रियोंका प्रमाण होना उनमें सात्त्विक अवस्थाके बिना शक्य नहीं ॥

सत्त्वगुणके तारतम्यवश किसी भी वस्तुका यार्थार्थ्य स्फुरित नहीं हो पाता ॥

अतः लौकिक प्रमाणोंकी गणना बहुत विचारणीय नहीं रह जाती ॥१४७॥

प्रकाश :

इन्द्रियाणाम् इति, सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम्. सत्त्वप्रवृद्धी अन्तःकरणं प्रमितिं जनयति. “सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्” (भग.गीता.१४।१७) इति. अन्यथा सत्त्वलये सैव सामग्री भ्रमं जनयति. अतो अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सत्त्वमेव प्रमाणम्. तत्कार्यमेव प्रामाणिकम्. रजस्तु व्यावहारिकम्. तमस्तु अप्रमाणमेव. अतो अन्यमिश्रणे तारतम्येन वस्तुयाथात्म्यस्फुरणम्. अतो लोके चक्षुषः कदाचित् प्रामाण्यं कदाचिद् न इति व्यवस्थाभावात् लोकेन प्रमाणगणना नैयायिकादिभिरिव न अस्माभिः कृता.

अनुवाद :

इस तरह प्रमेयके निरूपणके बाद ऐसा प्रमेय प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित हो सकता है ऐसे मतके निराकरणार्थं लौकिक प्रत्यक्षादिका अप्रमाण होना समझाते हैं :

इन्द्रियोंका इत्यादि, बुद्धि अपने-आप प्रमाणरूपा नहीं होती परन्तु सत्त्वगुणके सहकारवश उसमें प्रमाणरूपता आती है. स्वयंमें सत्त्वगुणके बढ़नेपर अन्तःकरणके भीतर प्रमिति पैदा होती है. “सत्त्वगुणके कारण ज्ञान प्रकट होता है” (भग.गीता.१४।१७) इस वचनके आधारपर. अन्यथा

सत्त्वगुणके लीन होनेपर अन्तःकरणकी वही सामग्री भ्रम पैदा करने लगती है. अतः अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा सत्त्वगुणको ही प्रमाण मानना चाहिये. उसके कार्यको ही प्रामाणिक मानना चाहिये. रजोगुणका प्रामाण्य व्यावहारिक हो सकता है. तमोगुणको तो अप्रमाण ही माना जाता है. अतः गुणोंके अन्योन्यमिश्रणके वश तारतम्यसे वस्तुकी वास्तविकता स्फुरित होती है. अतएव लोकमें चक्षु कभी किसी वस्तुका प्रामाणिक स्वरूप दर्शाती है तो कभी नहीं, इस विषयमें किसी तरह व्यवस्था प्रकट न होती होनेसे लोकमें प्रमाणोंकी गणनामें नैयायिकोंकी तरह उलझनेकी हमें कोई आवश्यकता नहीं.

अवतरणिका :

व्यवहारार्थं कर्तव्या इति चेत् न इति आह :

कारिका :

(८५) व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च लौकिकः ॥

(८६) शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धेः प्राणिमात्रस्य सर्वतः ॥१४८॥

(८७) तस्य त्रिविधरूपत्वाद् नाममात्रेण सा प्रमा ॥

(८८) तस्माद् वेदादिरेव अत्र प्रमाणं तच्च कीर्तितम् ॥१४९॥

भावानुवाद :

व्यवहार तो तीनों गुणोंका सन्निपात=मिला-जुला रूप होनेसे लौकिक ही होता है ॥

वह तो शास्त्रीय विषयोंकी सिद्धिसे पहले ही सिद्ध सभी प्राणिओंके हेतु सभी तरह सिद्ध ही होता है ॥१४८॥

उसके तो तीनों रूप होते ही हैं सो वह तो नाममात्रके हेतु प्रामाणिक होता है ॥

अतः वेद आदि शास्त्रोंको ही यह इस वेदान्तचिन्तनमें प्रमाण माना जाता है ॥१४९॥

प्रकाश :

व्यवहारः सन्निपातः इति, नहि सन्निपातकार्यं प्रामाणिकम्. तर्हि शास्त्रीयमपि सन्निपातकार्यं भविष्यति इति आशङ्क्य आह सच लौकिकः इति, औषधाद् जायमानो भावो न सन्निपातकार्यम्. अतः शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धेः सन्निपातः. लौकिकत्वं ज्ञापयति प्राणिमात्रस्य सर्वतः इति, सर्वप्राणिसाधारणो भावो व्यवहारो लौकिकएव. तत्रापि सद्-असद्भेदाः सन्ति इति आह तस्य त्रिविधरूपत्वाद् इति. उपसंहरति तस्माद् इति. वेदस्यैव, वेदादेरेव प्रामाण्यात्, तदनुसारेणैव प्रमेयस्य निरूपितत्वाद् लौकिकविरोधाभावात् च सर्वं सुस्थम्.

अनुवाद :

फिरभी कमसे कम व्यवहारनिर्वाहके लिये तो करनी चाहिये थी! नहीं तदर्थ भी आवश्यक नहीं यह कहते हैं :

व्यवहार तो सन्निपात इत्यादि, सन्निपातका कार्यको भला कौन प्रामाणिक मान सकेगा. तब तो शास्त्रीय प्रतिपादन भी सन्निपातका कार्य होना चाहिये इस शंकाके समाधानार्थ कहते हैं वह तो... लौकिक इत्यादि, औषधिके सेवनसे प्रकट होती शारीरिक अवस्थाको कोई अस्वास्थ्य नहीं मानता यद्यपि उसका सेवन अस्वास्थ्यमें किया गया होता है. अतः शास्त्रीय विषयोंकी सिद्धिसे पूर्वसिद्ध प्रमिति तो सन्निपात हो सकती है. उसकी लौकिकता समझानेको कहते हैं सभी प्राणिओंके हेतु सभी तरहसे सिद्ध इत्यादि, सभी प्राणिओंमें जो साधारणतया उपलब्ध होता हो ऐसा व्यवहार लौकिक ही होता है. उस व्यवहारके भी सद् या असद् भेद तो हो ही सकते हैं यह कहते हैं उसके तो तीनों रूप होते ही हैं. प्रस्तुत विषयके उपसंहरतया कहते हैं अतः इत्यादि. वेदको ही अथवा वेद आदि शास्त्रोंको ही प्रमाण मानना उचित होनेसे तदनुसार ही प्रमेयको निरूपित किया गया होनेके कारण लौकिक प्रमाणोंका विरोध प्रसक्त नहीं होता सब, अतः कुछ ठीक ही है.

.....

स्वमतीय प्रमेयके प्रतिपादनके बाद साधन-फलके प्रतिपादनोपयोगी मार्गस्वरूपका प्रतिपादन :

अवतरणिका :

... सर्वमेव मार्गम् उपपादयति :

कारिका :

- (८९) विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम् ॥
- (९०) तत्साधनं नवविधा भक्तिः तत्प्रतिपादिका ॥२२०॥
- (९१) गीता संक्षेपतः तस्या वक्ता स्वयम् अभूद् हरिः ॥
- (९२) तद्विस्तारो भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम् ॥
- (९३) व्यासः समाधिना सर्वम् आह कृष्णोक्तम् आदितः ॥

भावानुवाद :

क्रिया-ज्ञान-विशिष्ट रूप वेदार्थ फल और उसका साधन प्रेम ॥

उस प्रेमका साधन नवविधा भक्ति है. उस भक्तिका संक्षेपमें प्रतिपादन करनेवाली ॥२२०॥

गीताके वक्ता स्वयं श्रीहरि हुवे हैं, उसी गीताका सभी विषयोंमें निर्णायक अभिप्राय विस्तारपूर्वक प्रदान करने भागवत ॥

महर्षि व्यासने समाधि लगा कर सारी बातें कहीं जो श्रीकृष्णने गीतामें कही हैं ॥

प्रकाश :

विशिष्टरूपम् इत्यादिना, एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तम् इत्यन्तेन. अत्र प्रमेयं विशिष्टरूपम्. यस्य एकैको अंशः काण्डद्वयेन प्रतिपाद्यते स

ज्ञानक्रियोभययुतः स एव च फलम्. तत्रापि साधनं च प्रेमैव. तत्साधनं नवविधा भक्तिः. श्रवणादिव्यतिरेकेण संस्कारवशात् फलकामनया वा जायमाना प्रीतिः गौणी स्यात्. श्रवणादीनां साधनत्वे प्रमाणं गीता “भक्त्या तु अनन्यया शक्यः” (भग.गीता.११।५४) इति साधनसाध्यरूपाम् एकीकृत्य आह. गीताया अपि प्रामाण्यं, फलवाक्यात्. कृष्णस्य फलरूपत्वं परमानन्दरूपत्वात् पुरुषोत्तमत्वात् च. गीतार्थं सन्दिग्धं मत्वा विस्तरेण कथनार्थं भागवतं तेनैव रूपान्तरेण कृतम्.

अनुवाद :

... स्वमार्गका सारा उपपादन :

विशिष्ट रूप इत्यादिसे प्रारंभ कर, ऐसे दो मार्ग समझाये गये हैं तक. यहां प्रमेय क्रिया-ज्ञान दोनोंसे विशिष्टरूप है, जिसके एक-एक अंशका प्रतिपादन वेदके पूर्व और उत्तर काण्डोंमें प्रतिपादित हुवा है, ऐसा ज्ञान और क्रिया दोनोंसे संयुत भगवान्को ही यहां प्रमेयरूप होनेके साथ फलरूप भी माना गया है. उसे प्राप्त करनेका साधन प्रेम ही है. उस प्रेमका साधन नवविधा भक्ति. क्योंकि उपनिषद्-गीता-भागवत शास्त्रोंके श्रवण आदि किये बिना की जाती भक्ति अथवा तो पूर्वजन्मके किसी संस्कारवश की जाती भक्ति अथवा फलकामनाके वश की जानेवाली भगवत्प्रीति गौणी होगी. श्रवण आदिके साधन होनेका प्रमाण गीताका “अनन्य भक्तिके कारण ही शक्य...” (भग.गीता.११।५४) इस वचनमें साधनरूपा और साध्यरूपा भक्तिको एकहेलया कह दिया गया है. गीताका प्रमाण होना जिसे फलरूप माना गया उसके मुखसे निकले उपदेश होनेके कारण है. श्रीकृष्णका फलरूप होना परमानन्दरूप होनेके कारण है. गीताके अर्थको सन्दिग्ध मान कर विस्तारसे उसका अभिप्राय समझाने श्रीभागवतपुराण भी श्रीकृष्णके ही धारण किये गये रूपान्तर ऐसे महर्षि व्यासद्वारा प्रकट हुवा है.

.....

प्रमाण प्रमेय साधन या फल मेंसे कुछ भी इस मार्गमें वेद आदि शास्त्रोंसे विरुद्ध नहीं ऐसी प्रतिज्ञाके साथ कं मार्गीय साधनाका प्रतिपादन :

अवतरणिका :

ननु एवं पाषण्डानामपि वचनानि भवन्ति इति आशंक्य आह :

कारिका :

- (९४) विरुद्धकरणं न अस्ति प्रक्रिया न विरुद्ध्यते ॥
- (९५) कल्पितैरेव बाधः स्याद् अवोचाम प्रमाणताम् ॥२२५॥
- (९६) सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि ॥
- (९७) तस्य सर्वम् अशक्यं स्याद् मार्गे अस्मिन् सुतरामपि ॥२२६॥
- (९८) कृपायुक्तस्य तु यथा सिद्धयेत् कारणम् उच्यते ॥
- (९९) कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ॥
- (१००) श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात् ॥२२७॥
- (१०१) तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् ॥
- (१०२) परिचर्या सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम् ॥२२८॥
- (१०३) साकारव्यापकत्वात् च मन्त्रस्यापि विधानतः ॥
- (१०४) श्रीकृष्णं पूजयेद् भक्त्या यथालब्धोपचारकैः ॥२२९॥
- (१०५) यथा सुन्दरतां याति वस्त्रैः आभरणैरपि ॥
- (१०६) अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम् ॥२३०॥
- (१०७) भार्यादिः अनुकूलः चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् ॥
- (१०८) उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेत् ॥
- (१०९) तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः ॥२३१॥

.....

- (११०) यद्-यद् इष्टतमं लोके यच्च अतिप्रियम् आत्मनः ॥२३६॥
- (१११) येन स्याद् निर्वृतिः चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम् ॥
- (११२) स्वयं परिचरेद् भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः ॥
- (११३) एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत् ॥२३७॥

भावानुवाद :

वेद आदि शास्त्रोंसे विरुद्ध कोई कर्म या सिद्धान्त की प्रक्रिया स्वीकारी नहीं गयी ॥

कल्पनाओंके आधारपर कुछ स्वीकारा जाता हो तब शास्त्रप्रतिपाद्य अर्थका बाध हो सकता है इसके विपरीत हर बातमें शास्त्रवचनोंके प्रमाणोंका अवलम्बन तो दिखलाया ही गया है ॥२२५॥

फिरभी श्रीहरिकृपा ही किसीपर न हो तो ॥

उसकेलिये तो इस मार्गमें भी सब कुछ अशक्य होता ही है ॥२२६॥

पर यदि किसीपर कृपा हो तो उसे यह मार्ग कैसे सुगम होता है यह बताना अभिलषित है ॥

जो व्यक्ति कृष्णसेवापर हो दम्भादिसे रहित हो उसे भलीभांति सर्वप्रथम देख-परख कर ॥

ऐसे श्रीभागवतके तत्त्वज्ञका जिज्ञासु जनको आदरके साथ भजन करना चाहिये ॥२२७॥

वैसा कोई मिलता न हो तो स्वयं ही कहीं श्रीहरिमूर्ति चुन कर ॥

परिचर्या सदा करने लगनी क्योंकि सर्वव्यापी भगवान्का रूप भी उस मूर्तिमें अवस्थित रहता है ॥२२८॥

भगवान्के साकार और व्यापक होनेके कारण ही नहीं अपितु पूजाके मन्त्रोंका भी शास्त्रोंमें विधान मिलता होनेके कारण ॥

जो सेवा-पूजाके उपचार सहजतया उपलब्ध हों उनके साथ भक्तिभावके साथ श्रीकृष्णका पूजन करना चाहिये ॥२२९॥

वस्त्रों और आभूषणों द्वारा सजा कर जैसे कि सुन्दर लगने लगे ॥

पूजास्थलके साथ पूजनीय विग्रह को प्रेमके साथ अलंकृत करके ॥२३०॥

पत्नी आदि अनुकूल हों तो उनको भी साथ लेकर भगवत्सेवाका कर्म करना चाहिये ॥

वे उदासीन हों तो स्वयं ही करना चाहिये और प्रतिकूल हों तो गृहत्याग करके भी ॥

ऐसे विष्णुके विमुखोंके त्यागमें कोई दोष नहीं ॥२३१॥

.....

जो-जो लोकमें इष्टतम हो, जो कुछ आत्माको अतिप्रिय हो ॥२३६॥

जिससे चित्तमें निर्वृति(सन्तोषकारी आनन्द) होती हो उनसे श्रीकृष्णके साथ साधना चाहिये ॥

वस्त्रोंके प्रक्षालन आदिकी सेवा भी भक्तिभावके साथ स्वयं करनी चाहिये ॥

एक बार, दो बार या तीन बार भी पूजन किया जा सकता है ॥२३७॥

प्रकाश :

विरुद्धकरणं न अस्ति इति, न अत्र श्रुतिस्मृतिविरुद्धाचारो नापि प्रमेयं वेदविरुद्धम्, अतो न अत्र विरुद्धसम्भावनापि...

परम् अत्र सर्वेषां न फलमुखो अधिकारः किन्तु येषु भगवत्कृपा, कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते. तत्र आदितः साधनानि आह कृष्णसेवापरम् इति, योहि गुरुः सेवाम् उपदेशयति स स्वयं चेत् ताम् उत्तमां जानीयात् तदा कथं न स्वयं कुर्यादिति सेवापरएव गुरुः. तत्रापि निमित्तानि वारयति दम्भादिरहितम् इति. सेवा च प्रमाणमूलैव पुरुषार्थपर्यवसायिनी, अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथा करणे न फलसिद्धिः इति अभिप्रायेण आह श्रीभागवततत्त्वज्ञम् इति. जिज्ञासुः नतु कौतुकाद्याविष्टः. भजनं सर्वभावेन तदा तदुक्तप्रकारेण भगवत्सेवा

कर्तव्या. सच दुर्लभइति तेनापि वक्तव्यं प्रकारम् आह तदभावे इति. क्वचिद् देशविशेषे सत्परिपन्थिनाम् अभावयुक्ते हरेः मूर्तिं कृत्वा भजेत्. अयमेव अस्य मार्गस्य प्रकारः उत्तमः.

यद् मूर्तिं कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति : ^१तद्रूपम् इति, वस्तुविचारे सर्वस्यापि भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम् “एनम् उद्धरिष्यामि” इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतो, भक्तिमार्गानुसारेण आह ^२तत्र च स्थितम् इति, मूर्तिं स्थितं परं यत्र हस्तः तत्र हस्तः, तत्तदवयवेषु तत्तदवयवाः इति, तत्र हेतुः व्यापकं साकारं ब्रह्म इत्यतः सर्वे कटकाद्युपचाराः भगवदवयवेषु साक्षात्कृताः भवन्ति, ^३उपासनामार्गानुसारेणापि मूर्तावेव भगवद्भजनं भवति इति आह मन्त्रस्यापि विधानतः इति...

तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेण उपचाराः मुख्याः इति आह यथा सुन्दरतां याति इति. सप्रेम इति अनुद्वेगार्थम्... भार्यादिकं गृहं, विष्णुपराङ्मुखाः भार्यादयो अन्यथा परित्यागे दोषएव...

भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्. तत् क्लिष्टं त्रिविधं भवति : १.लोकक्लिष्टम् २.आत्मक्लिष्टं ३.चित्तक्लिष्टं च इति. अतो अक्लिष्टं निरूप्यते लोके यद्-यद् इष्टतमम् आप्रदाक्षादि, आत्मनो अत्यन्तं प्रियं दुग्धादि, सन्मार्गोपाजितं न अन्येषां भागरूपम्, चिरकालमनोरथचिन्तितं अन्तःकरणप्रियं, तेनैव चित्तनिर्वृतिः इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्. सेवा मुख्या नतु पूजति मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद् इति आह स्वयं परिचरेद् इति. धर्मार्थतां व्यावर्तयति भक्त्या इति. वस्त्रप्रक्षालनम् अतिबहिरंगम् इति तद्ग्रहणम्. प्रधानावृत्तौ अंगानि आवर्तन्तइति प्रधानावृत्तिम् आह एककालम् इति अनेन बहुकालमपि पूजनं निरूपितम्.

.....

अनुवाद :

शंका उठायी जा सकती है कि ऐसा दावा पाषण्डी भी कोई

कर सकता है उसका निराकरण करते हैं :

विरुद्ध प्रक्रिया स्वीकारी नहीं इत्यादि, यहां श्रुति अथवा स्मृति से विरुद्ध कोई आचरण नहीं है और न प्रमेय वेदसे विरुद्ध कोई स्वीकारा गया, अतः यहां विरुद्ध होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं...

यहां फिरभी सभीका फलमुख(सफल हो सके ऐसा) अधिकार नहीं होता जिनपर भगवान्की कृपावृष्टि हो वेही अधिकारी हो सकते हैं, और भगवत्कृपाका परिज्ञान तो भगवन्मार्गमें रुचि हो तब ही निश्चित हो पाता है. ऐसे मार्गके आरम्भसे जो साधन हों उनका निरूपण करने कृष्णसेवापर कहा, क्योंकि जो गुरु भगवत्सेवाका उपदेश देना चाहता हो वह स्वयं भी उसे उत्तम मानता हो तो स्वयं क्यों नहीं करेगा अतः गुरु होनेकी प्रथम योग्यता गुरु बनना चाहते पुरुषका भगवत्सेवापर होना है. वह भगवत्सेवा दम्भ आदि निमित्तोंके वश भी कर सकता हो अतः दम्भादिसे रहित यह दूसरी शर्त है. भगवत्सेवा भी प्रमाणमूलक हो तभी पुरुषार्थतया पर्यवसित होती है, अन्यथा मनमें कुछ और बाहर कुछ और कर दिखानेपर तो कोई फल सिद्ध नहीं होता इस अभिप्रायके वश कहा श्रीभागवततत्त्वज्ञ. भगवत्सेवार्थ परायण होना चाहनेवालेको जिज्ञासु होना चाहिये नकि केवल कौतुक आदिके आवेशके कारण. भजन करनेका मतलब सर्वभावके साथ उसके द्वारा उपदिष्ट प्रकारसे भगवत्सेवा करनी. अब ऐसा व्यक्ति दुर्लभ होनेसे मिलता न हो तो क्या करना उसका प्रकार दिखलाते हैं मिलता न हो द्वारा. कहीं सन्मार्गपर चलना चाहनेवालोंके विरोधी न हों ऐसे किसी देशमें श्रीहरिकी मूर्ति चुन कर भजन करने लगना चाहिये. यही इस मार्गमें भजनका उत्तम प्रकार है.

जो कुछ भगवन्मूर्तिके उपचारतया किया जाता हो वह सब साक्षात् भगवान्के साथ किया हुवा होता है. इस सन्दर्भमें भगवन्मूर्तिका साक्षात् भगवान् होना तीन तरहसे दिखलाया जाता है : ^१रूपदृष्टिसे,

वस्तुदृष्टिसे विचार करनेपर तो सभी कुछ भगवद्रूप होनेपर भी भगवन्मूर्तिके बारेमें विशेषता यह है भगवन्मूर्तिमें भगवान् “इस जीवका मुझे इस रूपद्वारा उद्धार करना है” ऐसी इच्छाके साथ मृत्तिका आदिमें प्रकट होते हैं. भक्तिमार्गिके अनुसार भी भगवान् ^१अपनी मूर्तिमें अवस्थित होते हैं, मूर्तिमें स्थित होनेके अर्थ जहां मूर्तिके हस्त होते हैं वहीं भगवान्के साक्षात् हस्त होते हैं, भगवन्मूर्तिके उन-उन अवयवोंमें साक्षात् भगवान्के अवयव होते हैं, इसमें हेतु यही है कि ब्रह्म व्यापक है और साकार भी अतः कड़ा-नुपुर आदि सभी उपचार भगवान्के ही अंगोंमें साक्षात् धराये-सजाये जानने चाहिये, ^२उपासनामार्गिके अनुसार भी भगवन्मूर्तिको भगवद्भजनतया माना ही गया पूजाके मन्त्रोंका भी विधान मिलता होनेसे ...

यहां समझनेकी बात यही है कि भक्तिमार्गिके अनुसार उपचारोंको प्रमुख मानना यह कहते हैं जैसे सुन्दर लगने लगे द्वारा. प्रेमके साथ अर्थात् भगवत्सेवामें उद्वेगके परिहारार्थ... पत्नी आदिद्वारा घर, विष्णुसे विमुख पत्नी आदि त्याज्य होते हैं अन्यथा परित्याग करनेपर दोष लगता है...

भगवत्सेवामें भी क्लेशप्रद वस्तुओंका समर्पण नहीं करना चाहिये. वह क्लेशप्रद तीन तरहके होते हैं : १.लोकमें क्लेशप्रद २.आत्माको क्लेशप्रद और ३.चित्तको क्लेशप्रद. अतः अक्लेशप्रदका निरूपण करते हैं लोकमें जो-जो इष्टतम हो उदा. आम्र द्राक्ष आदि, आत्माको जो अत्यन्त प्रिय दुग्ध आदि, यह सन्मार्गद्वारा उपार्जित होना अपरिहार्य अर्थात् जिसमें अन्य किसीका न हिस्सा न हो, साथ ही साथ स्वयंके भी चिरकालसे मनोरथोंके अनुसार विचार रखा हो वह अन्तःकरणप्रिय होता है, ऐसी वस्तुके कारण चित्तमें निर्वृति(सन्तोषकारी आनन्द) इसके सिवा अन्य वस्तुओंके निषेधार्थ यह कहा. सेवा मुख्य होती है नकि पूजा अतः मात्र मन्त्र बोल कर पूजापर नहीं बनना चाहिये ऐसा कहते हैं स्वयं परिचरण करना चाहिये द्वारा भगवत्सेवा धर्मार्थ

नहीं करनी चाहिये अतः कहते हैं भक्ति द्वारा . वस्त्रोंका प्रक्षालन अति बहिर्ग होनेके कारण उसे उदाहरणतया दिया. प्रधान अंगीकी आवृत्ति करनेपर अंगोंकी भी आवृत्ति हो जाती है इसलिये प्रधानावृत्ति समझाते हैं एक बार इत्यादि द्वारा बहुत काल भी करना हो तो पूजनका उपदेश निरूपित किया.

.....

अवतरणिका :

उपसंहरति :

कारिका :

(११४) एतत् सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्॥

(११५) अन्येषां संभवेत् तु स्याद् यतेः पर्यटनं वरम्॥२४६॥

(११६) ^१विक्षेपाद् अथवा ^२अशक्त्या ^३प्रतिबन्धादपि क्वचित्॥

(११७) ^४अत्याग्रहप्रवेशे वा ^५परपीडादिसम्भवे॥

(११८) तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा॥२४७॥

भावानुवाद :

गृहस्थको ये सारा प्रयत्नपूर्वक करना जरूरी होता है॥

अन्योंके लिये तो शक्य होनेपर ही. संन्यासीके लिये तो पर्यटन ही श्रेष्ठ होता है॥२४६॥

भगवत्सेवा या भगवत्पूजा में यदि निरन्तर ^१विक्षेप अथवा ^२अशक्ति अथवा कहीं ^३प्रतिबन्ध हो तब भी क्वचित्॥

अथवा ^४अत्याग्रह बंध जाता हो तो अथवा ^५दूसरोंको पीडा पहुंचाने लग जाये तो॥

तीर्थोंमें पर्यटन करना ही सभी वर्णोंके लिये श्रेष्ठ होता है ॥२४७॥

प्रकाश :

गृहस्थस्य एतद् मुख्यम्. एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यम् अश्नुते. ब्रह्मचारिप्रभृतीनामपि सेवकसाधनसम्पत्ती एतत् कर्तव्यम्. अन्यथा अन्यएव उपायः... ^१विक्षेपाद् इति, स्वतः प्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्शितानि, ^२जरया व्याधिभिः वा यदा शक्त्यभावो, ^३लोकाः वा प्रतिबन्धं कुर्वन्ति, ^४स्वस्य वा परमः आग्रहः उत्पद्यते येन तमसि प्रविष्टो भगवन्तं न स्मरति, ^५लोकानां वा पीडां कुर्यात्. तत्र पूजा त्यक्तव्या. तदा अन्यत्रापि तथात्वे परदेशे शून्यदेवालये पूजा विधेया. तत्रापि दोषसम्भवे तीर्थपर्यटनं कर्तव्यं, पापानां प्रतिबन्धकरूपाणां नाशाय, तदा यत्रैव गत्वा सेवा सम्पत्स्यते तत्रैव सेवा कर्तव्या. स्वतन्त्रतया तीर्थाटनप्रकारम् आह सर्वेषाम् इति.

अनुवाद :

उपसंहाररूपेण कहते हैं :

गृहस्थके लिये यह प्रमुख कर्तव्यरूप होता है. इस रीतिको अनुसरनेपर वह सकुटुम्ब भगवत्सायुज्यका लाभ पा सकता है. जो ब्रह्मचारी प्रभृतिओंके लिये भी यदि वे सेवक और साधन से सम्पन्न हों तो इसी तरह करना चाहिये. अन्यथा अन्य कोई उपाय करने चाहिये... ^१विक्षेप होता हो तो अर्थात् जब इन्द्रियोंकी स्वतः प्रवृत्ति भजनानुकूल न हो तब लगाम तान कर हठात् उन्हें भगवद्भजनमें लगानेपर वे विक्षेप पैदा करती हैं, ^२वृद्धावस्था अथवा किसी असाध्य व्याधि के कारण शरीरमें भगवत्सेवा करने लायक शक्ति शेष न हो तब, ^३जिन लोगोंके साथ रहना अपरिहार्य हो वे प्रतिबन्ध करते हो तब, अथवा ^४स्वयंका किसी कारणवश ऐसा परमाग्रह बंध जाये कि भगवान् याद ही न आते हों तब, ^५अथवा स्वयं जो भगवत्सेवा करता है उसके कारण अपने साथ रहनेवाले लोगोंको पीड़ा देनेवाली बन जाये तब. तब ऐसी पूजाका त्याग कर देना चाहिये. अन्यत्र कहीं परदेश या उजड़े देवालय जैसे स्थलमें भी कहीं भगवत्सेवा

करने जानेपर इन विघ्नोंसे बचा न जा सकता हो तब तीर्थोंमें पर्यटन करना चाहिये, ताकि भगवत्सेवामें विघ्न करनेवाले पाप नष्ट हो जायें, अथवा जहां जानेपर तदा भगवत्सेवा सम्पन्न हो पाती हो वहां जा कर लेनी चाहिये. स्वतन्त्रतया तीर्थोंमें पर्यटनका प्रकार समझाते हैं सभी वर्णोंके द्वारा.

.....

अवतरणिका :

...पूर्वाधिकारद्वयाभावे तृतीयं पक्षम् आह :

कारिका :

(११९) अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतम् आदरात् ॥

(१२०) पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् ॥२५३॥

(१२१) वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

(१२२) तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेत् ॥

(१२३) त्रयाणां येन केनापि भजन् सिद्धिम् अवाप्नुयात् ॥२५४॥

भावानुवाद :

अथवा आदरके साथ श्रीभागवतशास्त्रका ॥

किसी भी तरहके प्रयोजनके बिना प्रयत्नके साथ पठन करना चाहिये ॥२५३॥

प्राण निकल जानेको चाहे कण्ठमें भी क्यों न अटक रहे हों तब भी अपनी आजीविकाके हेतु श्रीभागवतका उपयोग नहीं करना चाहिये ॥

उसके बिना जैसे भी अपना निर्वाह शक्य हो चला लेना चाहिये ॥

यों इन तीनोंमेंसे किसी भी एक प्रकारसे भजन करनेपर सिद्धि मिल पाती है ॥२५४॥

॥ विवेकदीर्घाश्रयः ॥
ग्रन्थपरिचय

॥ षोडशग्रन्थान्तर्गत ॥

१. विवेकधैर्याश्रय
२. नवरत्न
३. सिद्धान्तमुक्तावली
४. भक्तिवर्धिनी

Memor.

॥ विवेकधैर्याश्रयः ॥

ग्रन्थपरिचय

कब कहां और किस प्रसंगमें विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थका प्रणयन हुआ यह पता नहीं चलता।

वैसे तो विवेक धैर्य तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रपत्तिमार्गके साथ अधिक घनिष्ठ है किन्तु भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंके लिए विवेक धैर्य तथा आश्रय भगवत्सेवामें भी उपयोगी होते ही हैं। वास्तविकता तो यह है कि इन तीनोंकी कर्म ज्ञान एवम् भक्ति रूप तीनों ही मार्गमें अपेक्षा रहती है। 'विवेक' 'धैर्य' या 'आश्रय' शब्द सामान्य अर्थोंमें श्रीमहाप्रभुको विवक्षित नहीं हैं अपितु एक निश्चित पारिभाषिक अर्थमें ही विवक्षित हैं।

यथा :

- (१) विवेक = हरिः सर्वं निजेच्छातो करिष्यति
- (२) धैर्य = त्रिदुःखसहनम् आमृते सर्वतः सदा
- (३) आश्रय = ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः

इन्हीं पारिभाषिक अर्थोंमें विवेक धैर्य तथा आश्रय पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवामें उपयोगी बनतें हैं।

कृष्णसेवामें प्रवृत्त पुष्टिभक्त किन-किन परिस्थितियोंमें कृष्णसेवाकतके लिए आवश्यक विवेक धैर्य या आश्रय को खो सकता है तथा किन उपायोंसे इनकी रक्षा सम्भव है आदि विषयों का निरूपण इस ग्रन्थमें हुआ है।

सिद्धान्तमुक्तावलीमें उपदिष्ट सेवाके बाह्य अंगोका निरूपण हमें सिद्धान्तरहस्यमें तथा आभ्यन्तर अंगोका निरूपण नवरत्नमें मिलता है। इन्हीं बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनोंकी सांगोपांगता विवेक-धैर्य-आश्रयके सम्पन्न होनेपर सम्भव होती है। अन्तःकरणप्रबोध ग्रन्थद्वारा जो अन्तरात्माका प्रबोधन किया गया उस प्रबोधनके लिए भी विवेक-धैर्य-आश्रयकी निरतिशय अपेक्षा है।

इन विवेक धैर्य तथा आश्रय का परस्पर सम्बन्ध विलक्षण है। जिसे भगवत्कृपासे आश्रय सिद्ध हो जाता है उसे विवेक और धैर्य स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं, अन्यथा विवेक और धैर्य के बिना आश्रय दृढ़ नहीं हो पाता। हमारे अविवेक और अधैर्य हमें भगवदाश्रयसे विचलित कर सकते हैं। अतः अपने जागृत विवेक तथा धैर्य के द्वारा अदृढ़ आश्रयकी रक्षा आवश्यक होती है। इस तरह विवेक-धैर्य एक कोटी है तथा आश्रय दूसरी कोटी है।

यह आश्रय पुष्टिभक्तिका आवश्यक अंग होनेपर भी केवल पुष्टिभक्ति ही नहीं अपितु कर्म-ज्ञान-भक्ति सभी मार्गोंका अनुकल्प है। कर्म-ज्ञान-भक्तिके अनेकविध उपायोंको दिखलानेके बावजूद भगवान्ने गीताके अन्तमें “सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं ब्रज” (भग.गीता.१८।६६) के महान् उपदेशद्वारा एक पृथक्शरणमार्गके रूपमें इसी आश्रयको समझाया है। भागवतके एकादशस्कन्धमें भी इसका स्पष्टीकरण मिलता है :

तस्मात् त्वम् उद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥

माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्।

याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम्॥

(भाग.पुरा.११।१२।१४-१५)

अर्थ : श्रुति-स्मृतिमें उत्सर्ग-अपवादके रूपमें कहे गये विधि-निषेध और तत्प्रेरित विविध कर्मोंमें प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा विविध ज्ञानमार्गीय श्रोतव्य-श्रुत विषयोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा रखे बिना केवल एकमात्र भगवान्की शरणमें सर्वात्मभावके साथ जाना चाहिये।

यहां भी इसी आश्रय या पृथक्शरणमार्ग का विवेचन अभीष्ट है।

एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ॥

अर्थ : इस तरह आश्रय सभीके लिए सर्वदा हितकारी सिद्ध होता है क्योंकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं।

कर्म ज्ञान या भक्ति के मार्गपर चल सकनेवाले जीवोंके लिए विवेक-धैर्य-आश्रय अच्छी तरह चल पानेमें सम्बल बन जाते हैं। जो इन मार्गोंपर चल नहीं पाते उनके लिए आश्रय ही मार्ग भी बन जाता है और चल पानेका बल भी!

आश्रयका सुलभतम स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इस तरह समझाया है :

यथा कथंचित् कार्याणि कुर्याद् उच्चावचान्यपि।

किंवा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम्॥

अर्थ : जैसे भी जो भी छोटे-बड़े या अच्छे-बुरे कार्य व्यक्ति करता हो परन्तु किसी भी समय श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र सहारा-शरण हैं, यह भावना मनसे दूर नहीं होनी चाहिये।

मूलतः गीतामें जिस तरह- “अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः” (भग.गीता.१८।६६) या भागवतमें जिस तरह- “मया स्या

ह्यकुतोभयम्” (भाग.पुरा.११।१२।१५) में भगवान्ने अपने श्रीमुखसे शरणागतोंको अभयदान दिया है वही इस आश्रय या प्रपत्ति की क्रिया एवम् भाव को पृथक्-शरणमार्गकी पदवी प्रदान करता है। अतएव श्रीमहाप्रभु भी यहां षोडशग्रन्थके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रयमें भगवत्सेवाके अंगरूपसे तथा अनुकल्परूपसे आश्रयका निरूपण करते हैं। जो स्वयम् अनुकल्प हो सकता हो वह यदि अंग बन जाये तो भगवत्सेवाके स्वरूपमें एक विशिष्ट निखार आना स्वाभाविक ही है।

अतएव श्रीमहाप्रभु उपदेश देते हैं विवेक-धैर्य की रक्षा सतत करनी चाहिये इसी तरह आश्रयकी भी।

विवेक

विवेकके वैसे तो अनेक अर्थ तत्तद् शास्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं। यहां परन्तु ‘विवेक’का विवक्षित अर्थ इतना ही है कि जो कुछ जहां जब जैसे घटित हो रहा है वह सर्वदुःखहारी भगवान् श्रीहरिकी अपनी इच्छासे ही हो रहा है। ब्रह्माण्डके सारे क्रिया-कलाप भगवान्की क्रीडाके अंग हैं। भगवान् जो कुछ करते हैं उसमें किसी न किसी तरह हमारा हित ही निहित होता है, हमारे हृदय और बुद्धि में यह भावना और धारणा सर्वदा बनी रहनी चाहिये। यही ‘विवेक’ कहलाता है।

“भगवान् सर्वसमर्थ हैं सर्वात्मा तथा सर्वान्तर्यामी हैं” ऐसे भाव भगवद्धर्मके विचारसे ‘विवेक’ कहलाते हैं। मैं भगवान्का अंश हूं, दास हूं, भगवत्क्रीडाका अंग हूं तथा मेरी अहन्ता-ममताका कोई अर्थ नहीं है इत्यादि मनोभाव जीवधर्मके विचारसे ‘विवेक’ कहलाते हैं। इस तरहके विवेकसे सम्पन्न होनेपर हमसे चतुर्विध अविवेक दूर हो जायेगा। हमारे भीतर चार प्रकारकी वृत्तियां अविवेकके कारण

घर कर जाती हैं. वे अविवेकजन्य वृत्तियां इस तरह हैं :

- (१) प्रार्थनाकी वृत्ति
- (२) अभिमानकी वृत्ति
- (३) हठकी वृत्ति
- (४) आग्रहकी वृत्ति

१) हमें थोड़ा सा कष्ट होने लगता है या कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो हम अपने कष्टोंको दूर करनेके लिए अथवा हमारी क्षुद्र कामनाओंकी पूर्तिके लिए भगवानसे प्रार्थना करने लग जाते हैं. मानों भगवान् सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी या सर्वात्मा ही न हों! भगवान् तो हमारी प्रार्थनाके बिना भी सब कुछ जानते हैं कि हमारी क्या अपेक्षाएँ हैं तथा किन कामनाओंकी पूर्तिमें हमारा हित निहित है और किनमें अहित. हम पहचान नहीं पाते पर परमात्मा तो हमारी आत्मामें निवास करते ही हैं. अतः हमारे स्वामी हमें क्या और कितना देना चाहते हैं उसे जाने बिना हम मांगनेकी भूल कर बैठते हैं. हमारे हितमें ही परमात्मा कुछ हमें देता है या नहीं देता परन्तु हम हमारे हिताहितके ज्ञानके बिना ही मांगनेकी बेसब्री कर बैठते हैं! अतः भगवान् सर्वज्ञ हैं सब कुछ देनेमें समर्थ हैं पर देगे वही जिसमें हमारा हित निहित हो, ऐसे दृढ़ विश्वासको मनमें रख कर प्रार्थना - कष्टनिवृत्ति या कामनापूर्ति की याचना - न करना विवेकका प्रथम लक्षण है.

२) यह प्रार्थनात्याग पूर्वोक्त भावभूमिपर किया जाये तभी 'विवेक' कहलाता है. अन्यथा पुरुषार्थवादी अहंकारयुक्त मनोवृत्तिसे अथवा अनीश्वरवादी अश्रद्धाकी मनोवृत्तिसे या किंकर्तव्य-विमूढ़ बुद्धिसे प्रार्थना न करना विवेकका लक्षण नहीं है. अतः प्रार्थनात्यागकी तरह अभिमानका त्याग भी आवश्यक है. अभिमान केवल हमें अपने स्वामीका होना चाहिये - अपने पुरुषार्थपर या परमात्मासे भिन्न किसी जडशक्ति यथा प्रकृति काल

कर्म स्वभाव माया शैतान आदिका नहीं. क्योंकि इनके कारण यदि कुछ सुख-दुःख हमें होता है तो वह भी परमात्माकी वैसी इच्छा होनेके कारण ही. अन्यथा ये सभी प्रभावहीन होते हैं. यह विवेकका द्वितीय लक्षण है.

३) मिथ्याअभिमान तथा प्रार्थना रहित जीवनप्रणालीमें यह सहज सम्भव है कि हमारे अन्दर अकर्मण्यताका एव ऐसा हठीलापन पनप जाये कि सामान्य-विशेष परिस्थितिके विवेकके बिना केवल हाथपर हाथ धरके बैठे रहना ही हमें आदर्श लगने लग जाये. अभिमानत्याग तथा प्रार्थनात्यागके साथ ही साथ विवेकरहित अप्रवृत्तिकी हठका त्याग भी अतएव आवश्यक होता है. भक्तकी प्रवृत्ति किन्तु अपने दैहिक स्वार्थोंकी पूर्तिसे प्रेरित नहीं होती. भक्तकी प्रवृत्ति होती है जब उसके अन्तःकरणमें विशेष भगवदाज्ञाका अनुभव होने लगे. ऐसी विशेष भगवदाज्ञाये अवसर-विशेषपर किसी भक्तविशेषसे किसी विशेष भगवत्कार्यको पूर्ण करानेके लिए होती है. भगवदाज्ञाके अनुसार यह कार्य मूढ़ ही पूर्ण करना है ऐसे भगवदीय अभिमानके साथ तथा अकर्मण्यताकी हठको छोड़कर उस विशेष कार्यको सम्पन्न करना चाहिये.

सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है इस सिद्धान्तकी सहज स्वीकृति तथा असहज हठीलेपनसे उसके साथ चिपक जानेमें बहुत अन्तर पड़ जाता है. अवसर विशेषपर स्वधर्म भगवत्सेवा या उससे सम्बन्धित किसी कर्तव्य को विशेष आयास-प्रयाससे पूर्ण करनेकी भगवदाज्ञाजन्य प्रेरणा जब हमारे अन्तःकरणमें उठती हो, तब जो होगा सो भगवदिच्छाके अनुसार होगा, ऐसी अकर्मण्यताकी हठ रखते समय हम यह भूल जाते हैं कि उक्त प्रेरणा भी तो विशेष भगवदाज्ञासे हुई है. अतः हठवादितापूर्ण सिद्धान्तके दुरुपयोगका त्याग विवेककी तीसरी पहचान है.

४) एक बार किसी अवसर विशेषपर “सब कुछ भगवदिच्छाके

अनुसार होता है” इस सिद्धान्तको हठवादितासे न लेनेका तात्पर्य यह नहीं हो जाता कि सैद्धान्तिक आग्रहोंसे सर्वथा मुक्त ही हो जाना चाहिये. व्यवहारमें सिद्धान्ततः क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है इसका विचार प्राथमिक होना चाहिये. तदनुसार ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये. अतः आपद्धर्म या अवसरोपात्त किसी विशेष कार्यरीतिको सार्वदिक माननेका आग्रह भी नहीं रखना चाहिये. अतः हठत्याग भी आग्रहरहित होना चाहिये. आग्रहसहित नहीं!

यही विवेकका वास्तविक एवम् परिपूर्ण स्वरूप है. इस ग्रन्थके एक व्याख्याकार श्रीगोपीशजीके अनुसार श्रीमहाप्रभु नवविध विवेकका यहां उपदेश करते हैं, जिसे इनकी व्याख्यामें इन्होंने भलीभांति समझाया है. यहां विस्तारभयसे हम अनुवाद नहीं दे रहे हैं.

धैर्य

जन्मसे मृत्युपर्यन्त सभी तरहके दुःखोंको सहन कर लेना धैर्य है. दुःखोंको सहन करनेका मतलब होता है उन्हें स्वीकार लेना - उनका प्रतिकार न करना. कभी एकाद दुःख सह लेना और कभी विचलित हो जाना धैर्यका स्वभाव नहीं है. निरन्तर सभी तरहके दुःखोंको सर्वदा सहना ही पूर्ण धैर्यका स्वभाव है.

दुःख अनेक प्रकारके हो सकते हैं. यथा रोगादिजन्य - कायिक या भौतिक दुःख होते हैं. कामक्रोधादिजन्य - इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दुःख होते हैं. सेवार्थ उपयोगी वस्तुओंके अभाव अथवा ऐसे अन्य भगवत्सम्बन्धी दुःखोंको आधिदैविक दुःख कहा जाता है. इस तरह धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थोंके सम्पादनके लिए लौकिक आयास आधिभौतिक, वैदिक आयास आध्यात्मिक तथा भगवदर्थ आयास आधिदैविक दुःख माने जाते हैं. कभी-कभी काल-कर्म-स्वभाव-जन्य दुःखोंसे भी हम पीडित हो जाते हैं. इन सभी तरहके दुःखोंको

सहन करना धैर्य कहलाता है.

धैर्य धारण करनेके चार उपाय होते हैं :

- (१) अनाग्रह
- (२) सहन
- (३) त्याग
- (४) असामर्थ्यभावना

(१) दुःखोंको सहन करना चाहिये पर स्वयम् चलाकर दुःखी होनेके काम नहीं करने चाहिये. अपने प्रयत्नके बिना स्वतः भगवदिच्छासे दुःख दूर हो जाते हों तो जान-बूझकर दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहकी भी कोई महत्ता नहीं है. अतएव समागत दुःखोंका प्रतिकार सहज-सरलतया हो जाता हो तो सहनेकी कोई आवश्यकता नहीं और न होता हो तो विचलित भी नहीं होना चाहिये. यही धैर्यका वास्तविक स्वरूप है.

दुःख सहनेको उद्यत रहनेपर भी दुःखी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहसे बचनेका उदाहरण अधोलिखित कथाश्लोक द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है :

तक्रवत् धैर्यधारण -

हत्वा नृपं पतिम् अवेक्ष्य भुजंगदष्टं
देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्॥

अर्थ : मुझे हठात् रनिवासमें पकड़ रखनेवाले राजाकी हत्या करके अपने सच्चे पतिके पास जब पहुंची तो सर्पदंशके कारण उसे भी मृत पाया. देश देशान्तरोंमें भटकती हुई वेश्यावृत्ति अपनाको बाधित हुई तो एक दिन स्वयम् अपने पूर्वपतिसे जात पुत्रको सम्पन्न ग्राहक

मानकर आमन्त्रित कर बैठी. वास्तविकताका ज्ञान होनेपर अपने पुत्रके साथ प्रायश्चित्त हेतु आत्मदाहको उद्यत हुई तो पुत्र जलकर मर गया परन्तु मैं कथञ्चिद् बच गयी. बचानेवाले ग्वालेकी पत्नी बनकर छाछ बेचती हूँ सो आज वह भी दुल गई. अब बताओ कि कितने दुःखोंको रोऊँ! इस छाछके दुल जानेके दुःखको कहां तक रोऊँ!!

जीवनमें एकसे बढ़कर दूसरे कष्ट आते हैं. किन-किनको रोया जाये और कब तक रोया जाये? ग्वालेकी पत्नी अपने पूर्वानुभूत कष्टोंका विचार कर नित-नये आनेवाले दुःखोंको झेल जाती है. जब भी जैसे जीवन-यापनके अवसर सामने आते हैं, उन्हे स्वीकार लेती है. न तो दुःखसे विचलित होती है और न दुःखी बने रहनेकी निराशा या कुण्ठा से ग्रस्त ही होती है. न दुःखोंके आनेका कोई आग्रह और न दुःखोंके जानेका कोई आग्रह! “प्रतीकारो यदृच्छातो सिद्धश्चेत् न आग्रही भवेत्.”

२) धैर्य धारण करनेका दूसरा उपाय है-दुःखोंको कष्टोंको या तिरस्कारोंको सह लेना. हमे यह सोचना चाहिये कि जो हमें कष्ट है वह अन्य किसीको भी हो सकता है. हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख भी हो सकता है. हमारी सुख-दुःखकी अनुभूतिके हम अकेले ही दावेदार नहीं है परन्तु अनेक दावेदार हैं. फिर अकेले हमारे उद्विग्न होनेकी क्या तुक है?

देहवत् धैर्यधारण

देहः किम् अन्नदातुः स्वं निषेक्तुर् मातुरेव वा।

मातुः पितुर् वा क्रेतुर् वा बलिनः अग्नेः शुनोऽथ वा॥

(भाग.पुरा.१०।१०।११)

अर्थ : इस देहपर सच्चा अधिकार किसका है? क्या उसका जो हमें अन्न देता है, या हमारे जनक पिताका, या गर्भधारण करनेवाली माताका, या बलपूर्वक जो अधिन कर ले उसका, या

धन देकर जो हमें खरीद ले उसका, या देहको भस्मसात् करनेवाली अग्निका, या उसे खानेके भूखे कृमी-कीट-पशु-पक्षियोंका!

जब हमारे देहके दावेदार अकेले हम ही नहीं-इतने सारे हैं. सभीके किसी न किसी तरह के कष्ट और आनन्द हमारे देहके साथ जुड़े हुए हैं. ऐसी सार्वजनिक सम्पत्तिसे अकेले हमारे दुःखी होनेकी क्या आवश्यकता है?

इसी तरह हमारे सुख-दुःखमें भी हमारे परिवार समाज राष्ट्र मानव-मात्र और प्राणिमात्र का कुछ न कुछ या किसी न किसी तरहका हिस्सा तो है ही. फिर अकेले हमें ही अपने कष्टोंको असह्य क्यों मानना चाहिये? किसीका कष्ट जैसे हमारे लिए सुख बन जाता है, इसी तरह हमारा कष्ट किसी दूसरेके लिए सुख होगा. वनस्पतीका कष्ट बकरीका सुख है-बकरी का कष्ट सिंहका सुख है-सिंहका कष्ट शिकारी मानवका सुख होता है इत्यादि. अतः हमारे पारिवारिक सदस्य पत्नी आदि या अन्य भी असाधु पुरुषों द्वारा किया गया तिरस्कार हमें सह लेना चाहिये.

३) धैर्य धारण करनेका तीसरा उपाय है त्याग. त्यागका अर्थ है अपनी औरसे सभी इन्द्रियोंके व्यापारोंको स्थगित कर देना. उन्हें काया वाणी और मन के अभिनिवेशसे मुक्त करना.

जडवत् धैर्यधारण

जैसे जडभरत अपनी मस्तीमें बैठे हुए थे. जब राजाके सैनिक उन्हें पालकी ढोनेके लिए ले गये तो आनाकानी किये बिना पालकी ढोने लग गये. ठीकसे न ढो पानेके कारण राजा गाली देने लगा तो वह भी मस्तीसे सुन ली. पूछनेपर बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर दिया और राजा चरणोंमें पड़ गया तो उसी पुरानी मस्तीसे ज्ञानोपदेश भी कर

दिया! इस तरह जडवत् व्यवहार करके भी धैर्य धारण किया जा सकता है.

४) धैर्य धारण करनेका चौथा उपाय है स्वयम् अपनी असमर्थताकी भावना करना.

गोपभार्यवत् धैर्यधारण

कृष्णके विरहमें गोपिकाओंने तथा अन्य भी ब्रजवासियोंने अपनी असमर्थताके बोधद्वारा धैर्य धारण किया था, रासके प्रकरणमें तथा मथुरागमनके प्रसंगमें भी. भगवान्पर जब बस नहीं चलता तो अपनी असमर्थताकी भावनाद्वारा धैर्य धारणके अलावा और कोई उपाय भी नहीं रह जाता है.

इस तरह भगवदिच्छाका और अपनी असमर्थताका विचार कर आधिदैविक दुःखोंको सहन कर लेना चाहिये.

ये सारे उपाय जो शक्य या सुकर नहीं लगते हों तो सर्वदुःखहर्ता हरिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये. क्योंकि भगवान्के आश्रयसे अशक्य भी सुशक्य हो जाता है. सारी दुर्लभ बातें भी सुलभ बन जाती हैं. इस तरह धैर्यका निरूपण किया गया. अब आश्रयका स्वरूप समझना चाहिये.

आश्रय

ऐहिक-पारलौकिक सभी बातों में सर्वथा एकमात्र हरिका ही सहारा स्वीकारना आश्रय कहलाता है. आश्रयकी दृढ़ताके भी चार उपाय हैं :

१) मन और वाणी से निरन्तर शरणभावना

२) कायिक वाचिक और मानसिक रूपमें अन्याश्रयका त्याग करना

३) मेघपर चातकके दृढ़ विश्वासकी तरह भगवान्पर सर्वदा दृढ़ विश्वास रखना-स्वयम् प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रपर स्वयमेव मेघनादकी तरह भगवान्पर कभी अविश्वास न करना.

४) सुखसे या दुःखसे जो भी मिल जाये उसका ममतारहित उपभोग करना.

१) हमारे जीवनमें अनेक प्रकारकी विषम स्थितियां सामने आती रहती हैं. जिन उद्वेगजनक परिस्थितियोंमें हम विचलित हो जाते हैं, उन परिस्थितियोंमें यदि हमारे मन और वाणी में हम शरणभावना बनाये रखें तो आश्रय दृढ़ हो जाता है. जीवनमें अनेकविध आधिभौतिक आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक कष्ट आते हैं. ऐसे समय बहुधा हम विवेक और धैर्य निभा नहीं पाते. पर मन और वाणी में यदि शरणभावना बनाये रखनेमें सफल हो पायें तो आश्रय दृढ़ हो जाता है.

चाहे कोई भी परिस्थिति हमारे सामने आ पड़े - पापकी, भयकी, अपूर्ण कामनाओंकी, भक्तद्रोहकी, भक्ति-अभावकी या भक्तोंसे तिरस्कृत होनेकी - सभी स्थितियोंमें भगवद्शरणभावना एक कारगर उपाय है. जब कीसी अशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब उद्वेग आशंका एवम् कुण्ठा के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं. जब कोई सुशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब सफलताकी आशा उत्साह और अहंकार के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं. कार्य चाहे अशक्य हो या सुशक्य भगवान्की शरणभावना सर्वदा मन-वाणीपर बनी रहनी चाहिये. हमारा अहंकार जब प्रबल हो रहा हो - हमपर जो आश्रित हों उनके रक्षणपोषणके समय अथवा हमपर आश्रित व्यक्ति या सम्बन्धी जन जब हमारे अहम्को ठेस पहुंचा रहे हों अथवा हमारे शिष्य भी जब हमारा तिरस्कार कर रहे हों, तब शरणभावनाको बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है.

मानसी सेवा, व्यसनदशा, निरोध या सर्वात्मभाव के अनुभवयोग्य अलौकिक मनकी सिद्धिके लिए भी एकमात्र श्रीहरि ही हमारी शरण होते हैं. मनवाणीसे निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्रका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये. यह आश्रयको दृढ़ करनेका प्रथम उपाय है.

२) काया वाणी और मन से अन्याश्रयका त्याग करना चाहिये श्रुतिमें नित्यकर्मके रूपमें विहित न हो तब भी किसी अन्य देवादिका स्वतः चलाकर-निष्काम या सकाम भजन करना अन्याश्रय है. कहीं जाते समय मार्गमें किसी अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो दूसरी बात है, अन्यथा स्वयम् अपनी ओरसे चलाकर किसी अन्य देवके दर्शनार्थ उनके मंदिरमें जाना अन्याश्रय है. मार्गसे जाते हुए अन्यदेवका मन्दिर मिल जाये तो नमन द्वारा आदरभाव प्रकट करना अन्याश्रय नहीं है. किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजनवश किसी अन्य देवताकी प्रार्थना करना अन्याश्रय है. 'अन्यदेव'का अर्थ है- भगवान्‌के ऐसे देवरूप कि जिनको पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें मान्य नहीं किया गया है. अन्याश्रयके त्याग करनेसे भी आश्रय दृढ़ हो जाता है.

३) भगवान्‌पर अविश्वास कभी नहीं करना चाहिये- सर्वदा चातकका सा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये. लंकामें हनुमानजीको जब ब्रह्मास्त्रसे बांधा गया तब स्वयम् बांधनेवाले राक्षसोंको ही ब्रह्मास्त्रपर अविश्वास हो गया था. अतः वे जब ब्रह्मास्त्रके अलावा रस्सी या अर्गला से बांधने लगे तब उनके अविश्वासको जानकर दोनों ही बन्धनोंको तोड़कर हनुमानजी मुक्त हो गये. अतएव अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये. जल बरसे या न बरसे पर चातकका विश्वास स्वातिबिन्दुके बारेमें कभी खण्डित नहीं होता. ऐसा दृढ़ विश्वास प्रभुपर रहना चाहिये. दृढ़ विश्वाससे भगवदाश्रय दृढ़ होता है.

४) हमें जो कुछ जैसा और जितना प्राप्त होता है, उसके

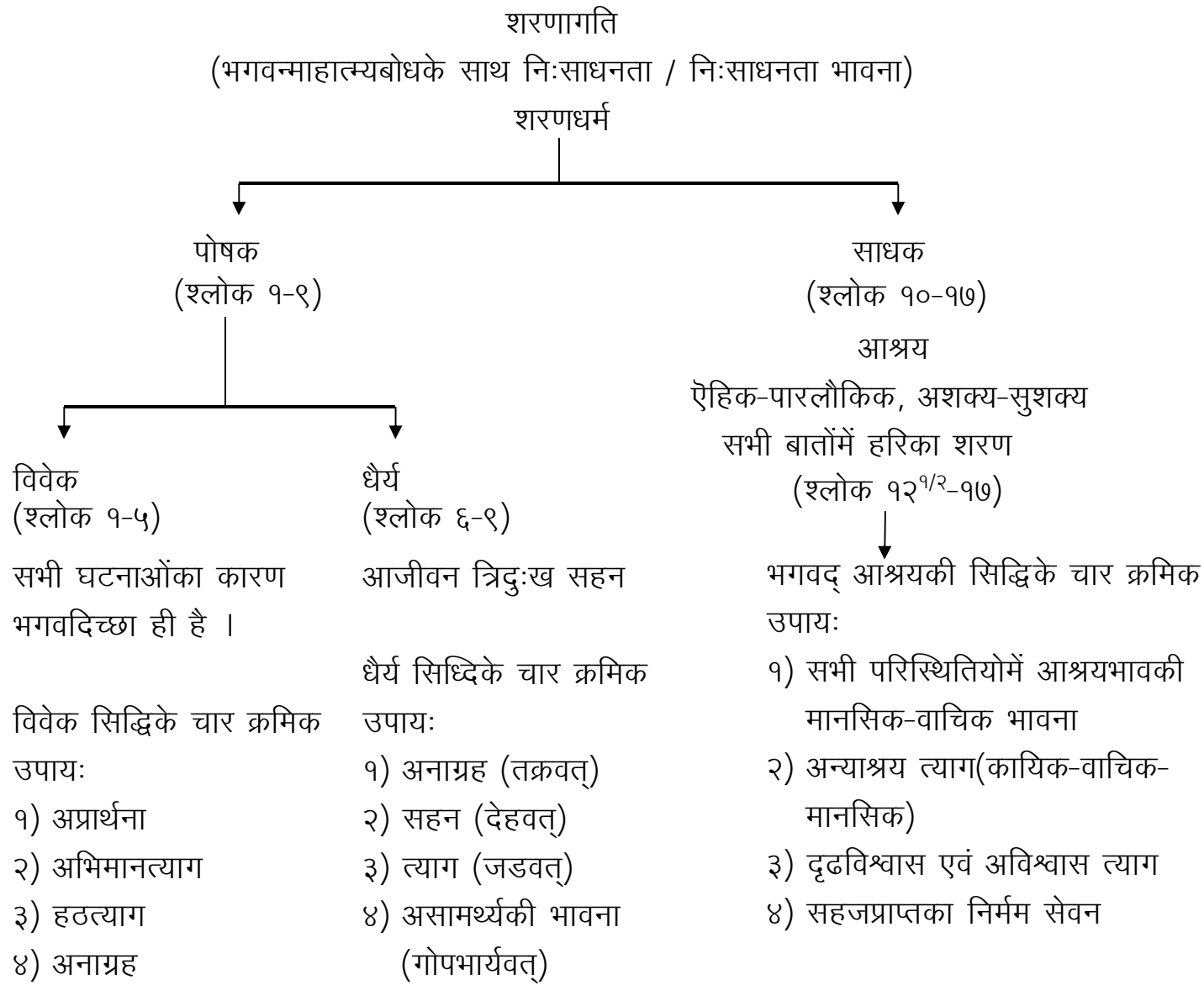
ममतारहित उपभोगका व्रत यदि हम लेलें तो न प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होगा और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे विषाद ही. इस तरह प्राप्त वस्तुके ममतारहित उपभोगसे भी भगवदाश्रयकी दृढ़ता सिद्ध होती है.

उपसंहार

किसी भी तरह हो आश्रयकी दृढ़ता अपेक्षित है. छोटे-बड़े अच्छे-बुरे किसी भी तरहके कार्योंको करते हुए यदि हम शरणभावनाको हृदयमें जगाये रखनेमें सक्षम हो जाते हैं तो अन्य सारी बातें शनैः शनैः स्वतएव सिद्ध होने लगेंगी. इस तरह हमने देखा कि कलियुगमें भक्ति आदि मार्गपर चल पाना दुःसाध्य हो गया है, फिर भी भगवान्‌ श्रीकृष्णका आश्रय सभी के लिए सर्वदा हितकारक होता है.

एक दृष्टिसे देखा जाये तो मार्ग तो कर्म ज्ञान और भक्ति रूप तीन ही हैं. परन्तु जो जीव इन मार्गोंपर चल नहीं पाते या चलते हुए थक कर बैठ जाना चाहते हैं, उनकी साधना अधूरी रह जाती है. पर थके हुए या बिना थके जो जीव भगवान्‌के चरणोंमें बैठ जाते हैं, वे बिना चले भी गन्तव्यतक पहुँच जाते हैं. भगवान्‌के चरण या शरण अपने आपमें मार्ग भी हैं और गन्तव्य भी. “एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्...”





॥ श्रीरघुनाथचरणविरचितदीपिकोपेतः ॥

विवेकधैर्याश्रयः

(शरणागत्युपदेशपरः)

॥ श्रीरघुनाथचरणद्वारा विरचित दीपिकाके साथ ॥

विवेकधैर्याश्रयः

(शरणागतिका उपदेश)

दीपिकामंगलाचरण :

स्वगोकुलपरित्राणसम्भ्रमेण उद्धृताचलम् ॥

क्रीडद्-गोपांगनापांग-संगि-गोपालम् आश्रये ॥१॥

मन्मानसे अस्तु सततं श्रीविट्ठल-पदाम्बुजम् ॥

संसारभय-भीतानां यत्स्मृतिर् भयनाशिनी ॥२॥

(औपक्रमिक मंगलाचरण)

अपने गोकुलकी रक्षाके लिये सत्वर गोवर्धनपर्वत उठा लेनेवाले गोपीजनोंके क्रीडारत नयनोंके संगी गोपालका मुझे आश्रय है ॥१॥

जिनकी स्मृति संसारके भयसे डरनेवालोंकी भीतिको निःशेष कर देती है ऐसे श्रीविट्ठलके चरणकमल में हृदयमें सदा बिराजमान रहें ॥२॥

अवतरणिका :

अथ भगवन्मार्गप्रवृत्तानाम् एकान्तिकभक्तानां भक्तिं सिसाधयिषूणां तत्साधनोपायान् विवेकधैर्याश्रयान् स्वस्वासाधारणलक्षणलक्षितान् विवेक्तुम् आदौ तान् असाधारणस्वशब्देन निर्दिशन्ति :

कारिका :

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ॥

भावानुवाद :

(विवेक धैर्य और आश्रय का उद्देशकथन)

॥ विवेक-धैर्यका रक्षण सतत करना चाहिये इसी तरह आश्रयका भी ॥

दीपिका :

रक्षणीये स्वीकार्ये.

अनुवाद :

अब भक्ति साधनेकी चाहना रख कर भगवन्मार्गपर प्रवृत्त होनेवाले एकान्तिक भक्तोंको भक्तिकी साधनाके उपायरूप विवेक धैर्य और आश्रय का (विचार=उद्देश लक्षण और परीक्षा के अन्तर्गत) उन-उनके विशेष लक्षणोंसे लक्षित स्वरूपोंकी विवेचनाकेलिये आदिमें उनके विशेष अभिधान(उद्देशकथन) समझाते हैं :

विवेक-धैर्यका रक्षण सतत करना चाहिये इसी तरह आश्रयका भी. रक्षण करना अर्थात् स्वीकारना.

अवतरणिका :

तत्र विवेकादयः कीदृशाः ? इति स्वरूपजिज्ञासायां प्रथमोद्दिष्टस्य विवेकस्य फलितस्वरूपम् आहुः :

कारिका :

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ॥१॥

भावानुवाद :

(विवेकलक्षणकथन)

विवेक तो यही है कि हरि अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ करेंगे ॥१॥

दीपिका :

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति इति. 'तु'शब्दः प्रसिद्धोत्तरार्थः. अन्यथा अप्रमाणिकत्वं स्यात्. "हरति त्रिविधमपि भक्तदुःखम्" इति व्युत्पत्त्या सकलदुःखहारिसमभिव्याहारि 'हरि'पदेन, "भगवान् करिष्यति न वा?" इति अविश्वासो निरस्तो वेदितव्यः. 'हरि'पदनिर्वचनन्तु महाभारते स्फुटम्. तद्यथा "हरामि अद्य हि स्मृतृणां, हविर्भागं क्रतुषु अहं, वर्णः च मे हरिः च इष्टः, तस्माद् 'हरि' अहं स्मृतः" (महाभा. । ।) इति. सर्वम् ऐहिकं पारलौकिकं निजेच्छातो जीवादृष्टप्रयत्नादिनिरपेक्षो अलौकिकस्वेच्छातः इति अर्थः. एवं वाक्यार्थानुसन्धानेन स्थेयम् इति तात्पर्यम्.

अनुवाद :

ये विवेक आदि क्या-कैसे होते हैं? इस तरह स्वरूपकी जिज्ञासा होनेपर सर्वप्रथम उद्दिष्ट विवेकका फलित स्वरूप समझाते हैं :

विवेक तो यही है कि हरि अपनी इच्छाके अनुसार सब कुछ करेंगे यहां 'तो'शब्द इस तथ्यका प्रसिद्ध होना सूचित करता है. अन्यथा बात अप्रमाणिक भी मानी जा सकती है. 'हरि' नामका अर्थ "हरि भक्तोंके त्रिविध दुःखोंको हरते हैं" इति व्युत्पत्तिमूलक माना गया है. अतः सकल दुःखोंका हरण करनेवालेका अर्थपर्यायका वाचक पद है. अतः "भगवान् करेंगे या नहीं?" ऐसे अविश्वासका कोई कारण नहीं. 'हरि'नामका निर्वचन महाभारतमें स्फुट किया गया है जैसेकि "मुझे स्मरण करनेवालोंके पापोंको हरता हुं, मैं यज्ञोंमें प्रदान की जाती हविका आहरण करता हुं, वांछित रंगरूप भी मेरा हरि है, अतः मुझे हरिके रूपमें सब याद करते हैं" (महाभा. । ।) इस वचनमें. सब कुछ ऐहिक या पारलौकिक अपनी इच्छाके अनुसार अर्थात् जीवात्माके अदृष्ट प्रयत्न आदिकी अपेक्षा रखे बिना अपनी अलौकिक इच्छाके अनुसार. ऐसे वचनोंके अभिप्रायका अनुसन्धान निभाये रखना यह तात्पर्य है.

अवतरणिका :

ननु लोके भगवद्भक्तानामपि प्रौढदुःखदूरीकरणार्थं भगवान् प्रार्थनीयएव. तस्माद् अशक्यार्थोपदेशएव अयं, पंगोः गिरिलंघनवद् विवेकोपदेशः ! इत्यतः आहुः :

कारिका :

^१प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंज्ञात् ॥

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ॥२॥

^२अभिमानश्च सन्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ॥

^३विशेषतश्चेद् आज्ञा स्याद् अन्तःकरणगोचरः ॥३॥

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नन्तु दैहिकात् ॥

^४आपदगत्यादिकार्येषु हठः त्याज्यः च सर्वथा ॥४॥

अनाग्रहः च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ॥

विवेको अयं समाख्यातः.....

भावानुवाद :

(विवेकके ^१प्रार्थनात्याग ^२स्वामीके आधीन होनेकी भावना, ^३विशेषाज्ञाका अनुसरण और ^४धर्माधर्मका विवेक रख हठाग्रहत्याग रूपी चार उपायोंका परीक्षण)

^१अपने स्वामी सभी तरहकी सामर्थ्यवाले हैं ही.

अतः कहां कब क्या और कैसा करना चाहते हैं, यह भलीभांति जाने बिना या अकारण प्रार्थना क्यों करनी चाहिये. उससे लाभ क्या होगा! ^२और अपने-आपको अपने स्वामीके आधीन मान कर अभिमान तो बिलकुल नहीं करना चाहिये. ^३अपने स्वामी विशेषतः कोई आज्ञा अन्तःकरणमें स्फुरित करते हों तो ऐसी विशेष आज्ञाका अनुसरण करना चाहिये, यदि अपने दैहिक कामनाके कोई आवेग, भगवान्द्वारा

की गयी अन्तःस्फुरणाका बहाना बना कर अपने साथ छलना करते से न लगते हों तब ही. ^४ आपद्गतिके रूपमें करने पड़ते कामोंके बारेमें हठीलापन सर्वथा छोड़ देना चाहिये और सर्वत्र धर्म और अधर्म का विवेक निभाते हुवे सभी प्रसंगोंमें आग्रहरहित होना. इन उपायोंको निभानेसे होता विवेक वास्तविक विवेक कहा जाता है ॥२-५॥

दीपिका :

^१ वा इति विकल्पे विवेकास्फूर्तिदशायाम्. ततः प्रार्थनातः किं स्याद् न किमपि इति अर्थः. कुतः ? इति अपेक्षायां स्वाम्यभिप्रायसंशयात् इति. स्वामी प्रभुः, तस्य अभिप्रायस्य चिकीर्षितस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात् संशयो भवत्येव. यत्र “फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तनाइव” इत्यादिषु लौकिकप्रभवभिप्रायोऽपि पूर्वं ज्ञातुम् अशक्यः तत्र किं वाच्यम् अलौकिकप्रभोः अभिप्रायस्य ! इति. ननु भक्तेच्छापूर्णाया भगवान् अशक्यमपि अर्थं सम्पादयति, तच्च, बह्वायाससाध्यम्, अस्मदादिवद्, भगवतोऽपि कदाचित् स्याद् इति तदर्थं पुनः-पुनः प्रार्थनया भगवान् स्मर्यते. (भगवतः तत् कार्यं स्मर्यते) इत्यतः आहुः सर्वत्र इति, सर्वस्मिन् काले देशे च यत्किञ्चिद् वस्तुमात्रं तत् सर्वं तस्य भगवतएव इति अर्थः. ‘हि’शब्दः प्रसिद्धौ. साच “अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः” (भग.गीता.७.६) इत्यादिषु ज्ञेया. ^२ ननु भक्तार्थं भगवतोऽपि अकालवस्तुसम्पादनम् आयाससाध्यं भविष्यति ! ^३ इति चेत् तत्र आहुः सर्वसामर्थ्यमेव च इति. नहि भगवतोऽपि कालम् अपेक्ष्यैव कार्यकरणं सम्भवति प्रत्युत कालस्यैव भगवदधीनत्वाद् जन्यत्वात् च तत्सापेक्षत्वम्. चकारात् कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं सामर्थ्यमपि द्योत्यते.

^४ कदाचिद् अत्यन्तापेक्षितमपि कार्यं भगवान् न करोति, तेन भक्तमनसि अभिमानो भवेद् “मया भजनार्थमपि प्रयत्नो न कर्तव्यः” इति, तद् न कार्यम् इति आहुः अभिमानः च सन्त्याज्यः इति, चकारात् कार्यानिष्पत्तिनिमित्तग्लानिरपि. ‘सम्’ इत्यनेन बाह्याभ्यन्तरभेदराहित्येन त्यागः

सूचितः. तत्र हेतुः, स्वाम्यधीनत्वभावनाद् इति, सर्वस्वनिवेदनेन अन्तःकरणमपि निवेदितमेव; अभिमानः च अन्तःकरणधर्मः, सच सुतरां न कार्यः इति भावः.

^५ एवं स्वतः कार्यमात्रं न कर्तव्यम् इति प्राप्ते भगवदाज्ञायां विशेषम् आहुः विशेषतः चेद् आज्ञा स्याद् इति, देहसम्बन्धि देहनिर्वाहकं कार्यं दैहिकम् इति उच्यते. तच्च, सर्वदापि अनिषिद्धमेव. विशेषतो विशेषनिमित्ताद् विशेषकार्यकरणार्थम् इति यावत्. सापि न बाह्यतः. किञ्च अन्तःकरणगोचरः अन्तःकरणपूर्विका यदि स्यात्, तदा एव दैहिकाद् भिन्नं विशेषगत्यादि भाव्यं कार्यम् इति अर्थः. ‘गति’पदेन क्रियामात्रं लक्ष्यते. ‘आदि’पदेन प्रार्थनमपि कार्यमध्ये क्वचित् सम्भवति चेत् तत् कर्तव्यमेव इति सूच्यते.

^६ * ननु विशेषज्ञायामपि यदि आपत्कालादिवशाद् भगवदाज्ञप्तकार्यानिष्पत्तिः तदापि किं भगवदाज्ञप्तम् इति कृत्वा प्राणादिभयं सोढ्वापि हठेन अशक्यमपि कार्यं कर्तव्यमेव उत न ? * इति प्राप्ते आहुः आपद्गत्यादिकार्येषु इति. भगवदीयानाम् एवंविधदशाप्राप्तौ भगवानेव हेतुरिति भगवदाज्ञोल्लंघनदोषोऽपि न भवति इति ज्ञेयम्. ‘गति’शब्देन प्राप्तिः उच्यते. ‘आदि’पदेन अशक्यार्थः उच्यते. तेन आपत्कालीनाशक्यकार्येष्वपि सर्वेषु हठः आग्रहः सर्वथा सर्वप्रकारेण त्याज्यः. चकाराद् आपन्नवृत्तौ पुनः आग्रहः स्वीकार्यएव इति अर्थः. यद्वा आपद्गतिः आदिः येषु कार्येषु कृतेषु भवति तेषु आग्रहो न कार्यः इति. भगवदनुक्तेष्वपि कार्येषु अनापद्यपि स्पृहा न कार्या इति आहुः अनाग्रहः च सर्वत्र इति. कर्तव्यान्तरमपि आहुः धर्माधर्माग्रदर्शनम् इति, धर्मः च अधर्मः च तयोः अग्रं पर्यवसितफलं तद्दर्शनम् अप्रमादेन तदनुसन्धानम्. विहितेऽपि कार्ये यस्मिन् कृते स्वधर्मत्यागः सम्भाव्यते, तन्न कार्यं, स्वधर्मत्यागस्य अधर्महेतुत्वात्. स्वधर्माविरोधिनः च धर्महेतुत्वात् तत्कार्यम् इति भावः. उपसंहरन्ति विवेको अयं समाख्यातः.

अनुवाद :

भगवान्के भक्तोंको भी जगत्में होते भारी-भरकम असह्य दुःखोंको

दूर करनेकी प्रार्थना भगवान्से न करनी तो किसके सामने करनी? इसलिये यह बात अशक्य ऐसा उपदेश लगती है, जैसे किसी पंगुको पर्वतपर चढ़नेको कहा जाये! इस तरहके उठते सन्देहके निरासकेलिये विवेकसिद्धिके उपायोंका परीक्षण कहते हैं :

^१ या इसलिये कहा कि कभी समझमें न आता हो क्या होने जा रहा है तब वैकल्पिक उपायके रूपमें भगवान्को प्रार्थना करने नहीं लग जाना चाहिये. उससे अर्थात् प्रार्थनासे क्या लाभ होगा कोई लाभ नहीं होता है. क्यों? क्योंकि स्वामी कहां कब क्या कैसा करना चाहते हैं यह भलीभांति जाने बिना, अर्थात् स्वामी प्रभु, क्या करना चाहते हैं यह जान पाना अशक्य होता है. अतः संशय होना स्वाभाविक है. लौकिक स्वामीके बारेमें भी कहा जाता है कि “परिणाम सामने आनेपर ही किसी उनके उद्यमका ज्ञान होता है. जैसे पूर्वजन्मके कर्मसंस्कारवश मिलनेवाले फल!” तब अलौकिक प्रभुके गूढ़ अभिप्रायके बारेमें तो क्या कहना! हो सकता है कि भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेको भगवान् अशक्यको भी शक्य या सुलभ बना देते हों परन्तु वह तो हमारे जैसेके लिये बहुत आयाससाध्य बात होती है वैसे ही कदाचित् भगवान्के लिये भी कोई बात इसी तरह बहुत आयाससाध्य हो तो पुनःपुनः प्रार्थना करके भगवान्को याद दिलाते रहनेमें क्या बुराई है? समाधान देते हैं कहां कब क्या अर्थात् सभी कालमें, सभी जगह, सभी कुछ वस्तुके बारेमें, वे सभी तरहकी सामर्थ्यवाले भगवान्में सारी सामर्थ्य होती हैं. ‘ही’शब्द यह बात प्रसिद्ध है ऐसा सूचित करनेको प्रयुक्त हुवा. यह प्रसिद्धि “मैं सारे जगत्के कारण हूँ” (भग.गीता.७।६) इत्यादि वचनोंके आधारपर जानी जा सकती है. * कभी हम ऐसा सोचते हों कि भक्तोंके लिये असमय कोई काम करनेमें भगवान्को भी अधिक आयास करना पड़ता होगा! * यह सोच ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् तो सभी तरहकी सामर्थ्यवाले हैं ही. भगवान्को कोई काम करनेमें कालकी

अपेक्षा रखनी नहीं पड़ती प्रत्युत स्वयं काल ही भगवान्के आधीन होनेके कारण भगवान्की अपेक्षा रखता है. ‘और’ पदके प्रयोगद्वारा भगवान्की कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य भी द्योतित की गयी है.

^२ कभी हो सकता है कि भक्तको किसी बात अपेक्षा अत्यधिक हो और भगवान् उसे पूरी न करते हों, इसके कारण भक्तके मनमें यह अभिमान जाग सकता है कि “अब मुझे भगवद्भजनका प्रयास भी नहीं करना अनावश्यक है” ऐसा परन्तु सोचना नहीं चाहिये क्योंकि अभिमान भी कभी नहीं करना चाहिये और चाहे काम बने या न बने मनमें ग्लानि भी कभी नहीं लानी चाहिये. ‘बिलकुल’ पदके प्रयोगद्वारा अभिमान बाहर न जतानेकी तरह भीतर भी नहीं रखना चाहिये. क्योंकि स्वामीके आधीन मान कर अर्थात् सब कुछ भगवान्के आधीन किया हो तो अन्तःकरणको भी भगवान्के आधीन माननेपर ऐसे उस अन्तःकरणका धर्मरूप अभिमान करने जैसा नहीं रह जाता.

^३ इस तरह स्वयं कुछ भी नहीं करना ऐसा कोई न मान ले अतः कहते हैं कि विशेष कोई भगवदाज्ञा हो तो कर लेना चाहिये. अपने स्वामी कोई विशेष आज्ञा जतायें तो अर्थात् हमारे देहकी मांगको खुश रखनेको कोई दैहिक आवेगरूप काम ‘दैहिक’ कहा जाता है. वह भी यदि अनिषिद्ध हो तो आपत्तिकी कोई बात नहीं. विशेषतः किसी विशेष निमित्तके वश कोई विशेष काम करनेकी अन्तःस्फुरणाके रूपमें होती आज्ञा. वह भी बाह्यतः नहीं होनी चाहिये क्योंकि अन्तःकरण छलना करता न लगता हो तो अर्थात् अन्तःकरण यदि अपना अपराध न मानता हो तो, तब ही दैहिकसे दैहिक कामनाके आवेगोंकी छलनासे भिन्न विशेष गति आदिके सोचने अर्थात् कर लेने चाहिये. ‘गति’पद सामान्यतया किसी भी क्रियाके अर्थमें प्रयुक्त हुवा है. ‘आदि’पदका अभिप्राय यह है कि ऐसी स्थितिमें

प्रार्थना बीचमें कभी हो जाये तो हो जाये बहुत चिन्ता नहीं करनी.

* * यहां ऐसी भी शंका हो सकती है कि आपत्कालके वशाद् भगवान्की विशेष आज्ञा होनेपर भी यदि जो विशेष आज्ञा मिली वह भी निष्पन्न न हो पाती है. तब भगवान्की यह तो विशेष आज्ञा है अतः प्राण निकल जायें तो निकल जायें पर उसे पूरी करनेका हठाग्रह नहीं छोड़ना चाहिये. यों अशक्य लगनेपर भी उस काममें जुटे ही रहना कि नहीं? * इसका समाधान दिया जाता है आपद्गति आदिके रूपमें किये जाते कामोंमें अर्थात् भगवदीयोंकी ऐसी दशा करनेमें भगवान् ही हेतु होते हैं. अतः भगवदाज्ञाके उल्लंघन करनेका दोष भगवदीयोंका नहीं मान लेना चाहिये. 'गति'पदका अर्थ प्राप्तिके रूपमें लेना चाहिये. 'आदि'पदका अर्थ अशक्य अन्य भी सारी बातें. अतः आपत्कालीन सभी अशक्य कार्योंमें हठ आग्रह सर्वथा सभी तरह छोड़ देना चाहिये. 'और' कहनेका अभिप्राय यही है कि आपत्कालके बीत जानेपर पुनः निभानेका आग्रह रखना चाहिये. अथवा आपद्गति आदि जिन कामोंको करनेपर सामने आ पड़ती हों उन कामोंको करनेका आग्रह नहीं रखना चाहिये. भगवान्ने आज्ञा न दी हो ऐसे कामोंको करनेकी स्पृहा तो अनापत्कालमें भी पनपने नहीं देनी चाहिये सभी प्रसंगोंमें आग्रहरहित होना चाहिये. एक दूसरा कर्तव्य भी दिखाते हैं धर्म और अधर्म का विवेक निभाते हुवे अर्थात् धर्मका भी और अधर्मका भीइन दोनोंका विवेक किस फलमें पर्यवसित होगा इसका विवेक प्रमादरहित अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये. कोई विहित कर्तव्य भी ऐसा हो सकता है कि जिसे करनेसे आगे चल कर स्वधर्मको छोड़नेकी नौबत आ सकती है, ऐसा काम नहीं करना चाहिये, क्योंकि स्वधर्मका त्याग अधर्मका हेतु होता है. स्वधर्मसे अविरुद्धी कार्य ही धर्मके हेतु बनते होनेके कारण करने चाहिये. विवेकके उपायोंके परीक्षणका उपसंहार करते हैं इन उपायोंको निभानेसे होता विवेक वास्तविक विवेक कहा जाता है.

अवतरणिका :

क्रमप्राप्तं धैर्यं निरूपयन्ति :

कारिका :

.....धैर्यन्तु विनिरूप्यते ॥

त्रिदुःखसहनं धैर्यम् आमृतेः सर्वतः सदा ॥

तक्रवद् देहवद्भाव्यं जडवद् गोपभार्यवत् ॥६॥

भावानुवाद :

(धैर्यका लक्षणकथन)

धैर्यं तो त्रिविध दुःखोंको आजीवन सर्वदा सहने करनेके रूपमें निरूपित होता है ॥

दीपिका :

त्रयाणां दुःखानां समाहारः त्रिदुःखं, दुःखस्य त्रिविधत्वन्तु आधिभौतिकादिभेदेन कायिकादिभेदेन वा कालकर्मस्वभावैः वा. तस्य सहनं तत्प्रतीकारं विना अनुभवः. तदपि आमृतेः, मृतिः=मरणं वर्तमानदेहत्यागः, तं मर्यादीकृत्य. तदपि न यत्किञ्चित् परिगणितनिमित्तात् किन्तु सर्वतो भगवदिच्छातो यद्-यद् उपस्थितं तत्-तत् सर्वं सोढव्यमेव इति भावः. तदपि न कालनैयत्येन किन्तु सर्वदा. आमृतेः इत्यनेन सार्वकालीनत्वे सिद्धेऽपि सर्वदा इति पुनः स्पष्टार्थं वचनम्. * ननु अनवरतदुःखसहनेन शरीरशोषात् तन्नाशोऽपि स्यात्, तद् न उचितमिति न दुःखं सोढव्यम् * इति चेत् तत्र आहुः तक्रवद् देहवद्भाव्यम् इति देहहानौ शोको न कार्यः इति अर्थे प्राक्तनं दृष्टान्तत्रयं ज्ञेयम्. तच्च त्रयं : तक्रवद् जडवद् गोपभार्यावद् इति. अन्वयस्तु : देहवता भाव्यं देहवद्भाव्यम्. तच्च देहवता पुरुषेण शरीरादिकमेव आत्मीयत्वेन भाव्यम् अनुसन्धेयं दृश्यते, तादृशन्तु न कार्यम्. तत्र कीदृग् अनुसन्धानं कार्यम्? इति अपेक्षायां तक्रादिषु यथा तेषाम् अनुसन्धानं तथा स्वदेहेऽपि कार्यम् इति अर्थः. तक्राख्यायिकात् “हत्वा नृपं पतिम् अवेक्ष्य भुजंगदंष्ट्रं, देशान्तरे विधिवशाद्

गणिकापि जाता. पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथम् अद्य तक्रम्!” इत्यादौ प्रसिद्धा. जडो जडभरतः तदाख्यायिका पञ्चमस्कन्धतो अवगन्तव्या. गोपैः भ्रियते धार्यते पोष्यते वा इति गोपभार्यो, (देहः) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीनः प्राकृतो देहः, तदपगमे यथा गोपीनां न शोकः तथा स्वदेहेऽपि कार्यम् इति अर्थः. अत्र ‘गोपभार्या’शब्दे उच्यमाने पुंवद्भावानुपपत्तिः, तेन अन्यथा व्याख्यातम्.

अनुवाद :

क्रमप्राप्त धैर्यका निरूपण करते हैं :

तीनों तरहके दुःखोंका समाहार त्रिदुःखं, दुःखका त्रिविध होना आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक दुःखोंके प्रभेदवश अथवा कायिक वाचिक और मानसिक प्रभेद अथवा काल कर्म और स्वभाव के कारण होते दुःखोंके अभिप्रायवश है. इन्हें सहन अर्थात् इन्हे बिना प्रतीकारके अनुभव करना. वह भी आजीवन अर्थात् वर्तमान देह छूटे तब तक. वह भी कुछ गिनेचुने निमित्तोंके वश नहीं किन्तु सभी तरहसे भगवदिच्छाके वश जो-जो दुःख सामने आ पड़ें उन सभीको सह लेना चाहिये. वह कुछ कालकेलिये नहीं किन्तु सर्वदा. आजीवन ऐसा कहनेसे भी सभी समय सहन करनेकी बात आती है तोभी सर्वदा यह पुनः कथन बातको स्पष्ट करनेको कहा गया है.

* किसीको यह शंका हो सकती है कि ऐसे तो अनवरत दुःखोंको सहते रहना शरीरका शोषण हो कर शरीरनाशका हेतु बन जायेगा, वह तो उचित नहीं माना जा सकता इसलिये दुःख सहनका यह उपदेश अनुचित है* इसका समाधान छाछके उदाहरण देहवानोंके लिये देते हैं अर्थात् देहकी हानिका शोक न करनेकी बात कुछ पुराने तीन उदाहरणोंके द्वारा समझाते हैं. वे उदाहरण हैं : छाछका जडका गोपभार्याका अर्थात् अन्वय यहां इस तरह लगाना

चाहिये : देहवानोंको जो भावना करनी चाहिये उसे ‘देहवद्भाव्यम्’ कहा वह है देहधारी पुरुष शरीरादिको ही अपना मानते हैं भाव्य अनुसन्धान रखना, वैसा नहीं करना चाहिये. तो कैसा अनुसन्धान रखना चाहिये? उसे समझाते हैं छाछ आदिके उदाहरणके आधारपर. इन उदाहरणोंमें जैसा अनुसन्धान रखा गया वैसा देह आदिमें भी रखनेकी बात है.

^१ छाछके उदाहरणकी कथा यों है “मुझे हथियाना चाहते राजाको मार कर जब अपने पतिके पास पहुँची तो उसे सांपके डस लेनेके कारण मृत पाया, बादमें दूसरे गांवमें गणिका होनेकी आजीविका अपनाने लाचार होनेपर एक दिन ग्राहक मान कर अपने पुत्रके साथ संगम करनेका पाप हो गया जान चितामें जल जानेको प्रविष्ट हुयी पर जल न पायी अब छाछके डुल जानेका शोक मुझे करने जैसा शोक ही नहीं लगता!” इस तरहकी आख्यायिका प्रसिद्ध है.

^२ जड़ यानि जडभरतकी आख्यायिका भागवतपुराणके पञ्चम स्कन्धसे जानी जा सकती है.

^३ गोपगण जिन्हें सम्हालते हों अथवा पोषण करते हों वे गोपभार्य, (देह) गोपिओंके भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़नेसे पूर्वकालीन प्राकृत देह, ऐसे देहके छूट जानेपर गोपिओंको कोई शोक नहीं हुवा ऐसे ही अपने देहके बारेमें भी नहीं करना चाहिये. यहां ‘गोपभार्या’शब्द यदि अभिप्रेत हो तो पुंलिङ्गमें उसका प्रयोग अनुमत न होनेके कारण, ऐसी अन्यथा व्याख्या अपरिहार्य हो जाती है.

अवतरणिका :

भगवदिच्छातः प्राप्ते दुःखे यथा अप्रतिकारः तथा तदिच्छाप्राप्ते स्वप्रयत्नं विनैव दुःखप्रतीकारेऽपि “मम सुखं मास्तु!” इति बुद्ध्या दुःखाभावसम्पादकहेतुनिवृत्तौ आग्रहं न कुर्याद् इति आहुः :

कारिका :

- ^१प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेद् न आग्रही भवेत् ॥
^२भार्यादीनां तथा अन्येषाम् असतश्च आक्रमं सहेत् ॥७॥
^३स्वयम् इन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ॥
^४अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्य असामर्थ्यभावनात् ॥८॥
अशक्ये हरिरेव अस्ति सर्वम् आश्रयतो भवेत् ॥
एतत् सहनम् अत्र उक्तम्.....

भावानुवाद :

(धैर्यके ^१आग्रहत्याग ^२सहन, ^३कायावाणीमनके स्वतः कार्यकलापोंका त्याग और ^४असामर्थ्यकी भावना रूपी चार सोदाहरण उपायोंका परीक्षण)

^१छाछ बेचनेवाली ग्वालनके दुःखोंका प्रतीकार किसी न किसी तरह हो ही जाता था अतः जैसे सभी दुःखोंको सहन करनेका आग्रह नहीं रखती थी वैसे.
^२अपना देह जैसे केवल अपना ही नहीं होता वैसे ही अपना दुःख भी केवल अपना नहीं होता मान कर भार्या आदि और दूसरों का भी असज्जनोंके द्वारा दिया जाता दुःख भी सहन कर लेना चाहिये
^३जडभरतजीकी तरह अपनी काया वाणी और मन से न तो स्वतः कहीं प्रवृत्त होना और न कहींसे निवृत्त होनेकी रीति रखनी चाहिये ^४ब्रजगोपिकाओंकी तरह असामर्थ्यकी भावना करके भी दुःखोंको सहा जा सकता है. यह भी शक्य न हो तो हरि ही आश्रय बनते हैं क्योंकि आश्रयसे सब कुछ सिद्ध हो सकता है. इस तरह त्रिविध दुःखोंको सहन करनेके उपाय दिखलाये गये ॥६-९॥

दीपिका :

- ^१प्रतीकारो यदृच्छातः इति.

^२ भार्यादीनाम् इति, भार्या आदि: येषां पुत्रादीनां तथैव अन्येषां पोष्यवर्गाणां, असतः च भार्यादिमध्ये स्वतो अत्यन्तनिकृष्टस्य सदोषस्यापि आक्रमं तत्कृततिरस्कारमपि सहेत इति अर्थः. अत्र ‘सहेद्’ इति परस्मैपदं “‘सह’=मर्षणे” इति आत्मनेपदिनो न संगच्छते यद्यपि तथापि “‘सहनं सहः” इति व्युत्पत्त्या ‘अच्’प्रत्यये कृते, पश्चात् सहं करोति आचरति इति वा परस्मैपदं ज्ञेयम्.

^३ तथा पूर्व भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वप्रयत्नं विनैव सुख-दुःखादेः सहनम् उक्तम् इदानीं स्वकृतिसाध्यं सुखादिकं न कार्यम् इति आहुः स्वयम् इति, इन्द्रियकार्याणि तत्तदिन्द्रियसाध्यविषयभोगः. तन्तु कायेन वाचा मनसा त्यजेद् इति अर्थः. ‘काय-वाङ्-मनसा’ इत्यत्र द्वन्द्वैकवद्भावाद् एकवचनं ज्ञेयम्.

^४ दुःखं सोढुम् अशक्तेनापि तदर्थं वृद्धसेवन-वैराग्यादिकं कर्तव्यं नतु आहत्य धैर्यमेव, तत्र हेतुः स्वस्य असामर्थ्यभावनाद् इति, भावनं परिदृश्यमानत्वम् इति. कर्तव्यान्तरम् आहुः अशक्ये इति, सर्वप्रकारेण अशक्ये अर्थे हरिरेव अस्ति “मम शरणम्” इति बुद्धिम् आश्रित्य तिष्ठतः सर्वम् ऐहिकं पारलौकिकं च भवेद् इति अर्थः.

अनुवाद :

भगवदिच्छाके कारण प्राप्त होते दुःखोंका जैसे प्रतीकार शक्य नहीं होता वैसे ही भगवदिच्छाके कारण अपने किसी प्रयत्नके बिना सिद्ध हुवे प्रतीकार हो जानेपर “मुझे सुख नहीं मिलना चाहिये!” ऐसी बुद्धिके वश जिन कारणोंसे दुःख मिट रहे हों उन्हें मिटानेका भी आग्रह नहीं रखना चाहिये. ऐसा अब समझाना चाहते हैं :

^५ आकस्मिकतया दुःखप्रतीकार इति.

^६ पत्नी आदि परिवारजनोंके अर्थात् पुत्रादिके और अन्य जो

अपनेपर निर्भर रहनेवाले हों उनमें भी असज्जन हों अर्थात् पत्नी आदि परिवारके लोग जो स्वतः अत्यन्त निकृष्ट दोषवाले हों उनके द्वारा किया जाता भी आक्रम तिरस्कार सहन कर लेना चाहिये. यहां मूल संस्कृतकारिकामें ‘सहेद्’ पद परस्मैपदमें प्रयुक्त हुवा है. वह यद्यपि “‘सह’=मर्षणे” इस आत्मनेपदवाले क्रियापदसे तो संगत नहीं होता फिरभी “‘सहनं सहः” इस व्युत्पत्तिके आधारपर ‘अच्’प्रत्यय लगा कर पश्चात् जो सह करता हो या वैसा आचरण करता हो ऐसा अर्थ ले कर परस्मैपदमें प्रयोग संभव होनेसे किया गया है.

^३ इसी तरह पहले जैसे अपने प्रयत्नके बिना भगवदिच्छाके कारण प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादिको सहनेको कहा गया उसी तरह अब अपने आयाससे सिद्ध होनेवाले सुखादिका भी आग्रह नहीं रखनेकी बात समझाना चाहते हैं स्वयम् द्वारा इन्द्रियोंके कार्य तत्तद् इन्द्रियोंसे किये जाते विषयोंका उपभोग. इनका काया वाणी और मन से त्याग करना चाहिये. मूल संस्कृत कारिकामें ‘काय-वाङ्-मनसा’ यह एक द्वन्द्वसमासके कारण एकवद्भावके नियमके अनुसार एकवचनका प्रयोग है.

^४ जो दुःख सहन करने समर्थ न हो उसे वृद्ध पुरुषोंकी संगति करके वैराग्यादिके हेतु प्रयास करना चाहिये नकि धैर्यके ही पीछे पड़े रहना, इसे साधनेकी रीति यही है कि अपने असामर्थ्यकी भावना करनी ‘भावन’ यानि सभी तरह निहारनेसे जो दिखलायी देता हो. निष्कर्षतया कर्तव्यान्तर दिखलाते हैं यह भी शक्य न हो तो अर्थात् सभी प्रकारसे अशक्य लगनेपर हरि ही “मेरे शरण=आश्रय” ऐसी बुद्धि रखनेसे सभी कुछ ऐहिक या पारलौकिक कार्य सिद्ध हो जाते हैं.

धैर्यके चतुर्विध उपायोके परीक्षणका उपसंहार करनेको कहते हैं

इस तरह त्रिविध दुःखोंको सहन करनेके .

कारिका :

..... आश्रयो अतो निरूप्यते ॥९॥
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ॥
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ॥१०॥
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैः च अतिक्रमे कृते ॥
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ॥११॥
अहंकारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ॥
पोष्यातिक्रमणे चैव तथा अन्तेवास्यतिक्रमे ॥१२॥
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ॥

भावानुवाद :

(आश्रयका लक्षणकथन)

इसके बाद अब आश्रयका निरूपण करते हैं ऐहिक और पारलौकिक सभी बातोंमें हरि ही सर्वथा शरणीय होते हैं. वह चाहे दुःखकी हानि करनी हो या कुछ पापाचरण हो गया हो या भय लग रहा हो या कामादिकी पूर्ति करनी हो, या किसी भक्तके साथ द्रोह किया हो, या भक्ति अपने भीतर पनपती न लगती हो, या किन्हीं भक्तोंने हमारा तिरस्कार किया हो, या कुछ अशक्य लगता हो या कुछ सुशक्य लगता हो हरि ही सर्वथा आश्रयणीय होते हैं. अपने अहंकारवश किन्हीं पोष्यजनोंके पोषण और रक्षण में, या ऐसे पोष्यजनोंद्वारा हमारा तिरस्कार किये जानेपर, या हमारे शिष्योंद्वारा हमारा तिरस्कार किये जानेपर, या अपने मनको अलौकिक बनाना हो तब भी, हरि ही सर्वथा आश्रयणीय होते हैं ॥

दीपिका :

क्रमप्राप्तम् आश्रयं निरूपयन्ति आश्रयो अतः इति, अतः इति धैर्यनिरूपणानन्तरम् इति अर्थः. आदौ फलितं रूपम् आहुः ऐहिके इति. इह अस्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवद् ‘ऐहिककार्यम्’ उच्यते. परो अस्माद् अन्यो, अन्तरिक्षलोकम् आरभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः. चकाराद् भगवदिच्छया कदाचिद् नरकभोगः सम्भाव्यते चेत् तत्रापि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च “हरिरेव शरणं मम” इति चित्ते निश्चित्य स्थेयम् इति अर्थः. भगवदीयानां नरकः स्वर्गादिरेव नतु तामिम्लादिः. अतएव विष्णुपुराणेऽपि उक्तम् “वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु तस्य अन्तरायो, मैत्रेय !, देवेन्द्रत्वादिकं फलम्” (वि.पुरा.१।६।४३) सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनम् उक्तम्. इदानीं तदेव पुनः निमित्तविशेषेष्वपि उच्यते. तानि निमित्तानि “दुःखहानौ...” इत्यारभ्य “सर्वथा शरणं हरिः” इत्येतत्पर्यन्तोक्तानि ज्ञेयानि. दुःखस्य हानौ प्राप्तायामपि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यम् इति अर्थः. एवं सर्वत्र योज्यम्. पापे प्रारब्धवशाद् जाते, भये शत्र्वादिकृते, कामः इच्छा लौकिकालौकिकसाधारणी, ‘आदि’पदेन धर्मादिरपि, तेषाम् अपूरणे अनिष्पत्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेऽपि, अन्यत्र भक्तिं दृष्ट्वा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहामात्रेऽपि, भक्तैः स्वस्य अतिक्रमे कृतेऽपि तेषु प्रातिकूल्यं न कार्यम् इति भावः. अशक्ये स्वयम् अन्यद्वारा वा कर्तुम् अयोग्ये अर्थे, सुशक्ये अनायासेन कर्तुं योग्ये अर्थे, उभयत्रापि ‘वा’ शब्दो अप्यर्थः. अहंकारेण कृते अहंकारकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च पोषणरक्षणे. पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहंकारेण कृतेऽपि. चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः. पोष्यवर्गस्य दैववशाद् अतिक्रमे सति अन्तेवासी भगवन्मार्गाजिज्ञासुः शिष्यः. सर्वार्थे सर्वस्मिन् उक्तानुक्तरूपे अर्थेऽपि हरिरेव आश्रयणीयः इति अर्थः. अलौकिकमनःसिद्धौ इति निमित्तसप्तमी. तेन अलौकिकमनःसिद्ध्यर्थमेव सर्वार्थे हरिरेव आश्रयः इति अर्थः पर्यवसितः.

अनुवाद :

अब क्रमप्राप्त आश्रयका निरूपण करते हैं इसके बाद आश्रय

अर्थात् धैर्यके निरूपण करनेके बाद ऐसा अर्थ है. आदिमें आश्रयका निष्कृष्ट स्वरूप समझाते हैं ऐहिक... द्वारा इह इस जन्ममें या इस कालमें होनेवाले कार्य 'ऐहिक कार्य' कहे जाते हैं. पर इससे अन्य, अन्तरिक्षलोकसे शुरु कर ब्रह्मलोकपर्यन्त परलोक कहा जाता है. और भगवदिच्छाके कारण कदाचिद् नरक भी भोगनेकी सम्भावना हो तो वहां भी सभी प्रकारसे काया वाणी और मन से "हरि ही मेरे आश्रय हैं" ऐसा चित्तमें निश्चित करके रहना चाहिये. भगवदीयोंको तो स्वर्गादिरूपमें ही नरक मिलता है नकि तामिस्रादि. अतएव विष्णुपुराणमें कहा गया कि "जिनका मन वासुदेवमें लग गया हो उन्हें जप होम अर्चन आदिके वश होता भी अन्तराय लगता है, मैत्रेय!, इसी तरह स्वर्गमें मिला देवताओंका आधिपत्यादि रूप फल भी अन्तराय ही लगता है" (वि.पुरा.१।६।४३). सामान्यतया सभी कामोंमें शरण जानेकी बात समझायी गयी है. अब पुनः वही निमित्तविशेषोंके सन्दर्भमें भी कहनी है. उन विशेष निमित्तोंको गिना रहे हैं "दुःखकी हानि..." से शुरु कर "हरि ही सर्वथा आश्रयणीय होते हैं" पर्यन्त निमित्त गिनाये गये हैं. दुःखकी हानि हो गयी हो तो उसके हर्षमें हरिकी शरण भुला नहीं देनी चाहिये. इसी तरह सर्वत्र योजित कर लेना चाहिये. पापाचारण प्रारब्धके वश हो जाते हैं कभी, भय शत्रु आदिके कारण होता है, काम यानि इच्छा वह लौकिक विषयकी तरह अलौकिक विषयके बारेमें भी हो सकती है, 'आदि'पदके द्वारा धर्मादि भी लेने चाहिये, वे पूरे न हो पाते हों तो अधूरे रह जाते हों निष्पन्न न हो पाते हों, भक्तोंके प्रति द्रोहाचरण हो जानेपर भी, दूसरोंके भीतर भक्तिभाव देख कर और अपने भीतर भक्तिभाव न होनेपर स्पृहा जागती हो तब भी, भक्तोंद्वारा अपना तिरस्कार किये जानेपर भी उनके प्रतिकूल नहीं बन जाना चाहिये. अशक्य हो या स्वयं या अन्यद्वारा जो कार्य शक्य न लगता हो उसके बारेमें, या सुशक्य हो बिना किसी आयासके जिसे किया जा सकता हो ऐसे कार्यके बारेमें, दोनों ही जगह 'या' शब्दका

अर्थ 'भी' समझना. अहंकारके साथ किये जानेवाले किसीके पोषण या रक्षण में. पोष्यजनोंके पोषण और रक्षण अहंकारके साथ किया जाता हो तब भी. और दोनोंके समुच्चयके अर्थका द्योतक है:. पोष्यजनोंका दैववशाद् अतिक्रमण हो जानेपर शिष्यजनों भगवन्मार्गकी जिज्ञासा रखनेवाला शिष्य. सभी बातोंमें सारी कही गयी न कही गयी बातोंमें भी हरि ही आश्रयणीय होते हैं. अपने मनको अलौकिक बनाना हो तब भी अर्थात् अलौकिक बनानेके निमित्तवश भी. इससे अलौकिकमनःसिद्धिके ही लिये सभी बातोंमें हरि ही आश्रयणीय होते हैं यह अर्थ पर्यवसित हुवा.

कारिका :

^१ एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ॥१३॥

^२ अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ॥

प्रार्थना कार्यमात्रेऽपि तथा अन्यत्र विवर्जयेत् ॥१४॥

^३ अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ॥

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ ^४ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ॥१५॥

यथा कथञ्चित् कार्याणि कुर्याद् उच्चावन्यपि ॥

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम् ॥१६॥

भावानुवाद :

(आश्रयके ^१ चित्तमें भावना और वाणीसे कीर्तन ^२ अन्याश्रयत्याग

^३ अविश्वाससे बचना और ^४ उच्चावच कामोंको करनेपर भी जो प्राप्त हो उसका ममतारहित उपभोग रूपी चार उपायोंका परीक्षण)

^१ इस तरह चित्तमें सदा भावना करनी चाहिये

वाणीद्वारा भी यह परिकीर्तन करते रहना चाहिये और

^२ इसमें अन्यदेवोंका स्वतः भजन और अन्यदेवोंके स्थलोंपर

स्वतः स्वतोगमन, ऐसे ही किसी भी कार्यको पूर्ण

करनेको स्वतः अन्यत्र प्रार्थना नहीं करनी चाहिये

^३ कभी भी भगवान्पर अविश्वास तो नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तो सर्वथा बाधक होता है. इस विषयमें ब्रह्मास्त्रन्याय और चातकस्वातिजलन्याय की भावना करनी चाहिये ^४ जो कुछ सहज मिल जाये उसका ममतारहित उपभोग करना बिना किसी अहंकारके करना चाहिये. जैसा भी ऊंचा-नीचा काम हम कैसे भी करते हों और क्या अधिक कहना हरिके आश्रयकी भावना करते रहनी चाहिये ॥१३-१६॥

दीपिका :

^१ एवम् इति, विवेकादीनां स्वरूपं यादृशम् उक्तं तादृशं सदा चित्ते सम्यग् अनुसन्धयेम्. वाचा च वचनेनापि परबोधनार्थं स्वार्थमेव वा परिकीर्तयेत् परितः सर्वतः कीर्तयेत्. चकारात् कायव्यापारयोग्यं कुर्यादपि.

^२ अन्यस्य भजनं तत्र इति, तत्र तस्मिन् आश्रयरूपे अर्थे सम्पन्ने अन्यस्य भगवद्भक्तव्यतिरिक्तस्य भजनं सेवनं स्वतो गमनं स्वस्य अनाकारितस्य स्वस्य तत्समीपे गमनम्. चकारात् तेन सह शारीरसम्बन्धोऽपि न कार्यः. कार्यमात्रेऽपि कर्तुं विहिते स्वधर्माविरोधिनि कर्तव्ये अर्थे प्रार्थना कार्या इति शेषः. प्रार्थनीयो भगवान् तद्भक्तो वा. अतएव विष्णुधर्मोत्तरे शंकरगीतासु “अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित् क्रियां न आरभते हरिम् असम्भिन्नार्यमर्यादः तस्य तुष्यति केशवः” (वि.ध.पु.१।५९।२४) इति. तथा अन्यत्र इति, यथा भगवति प्रार्थना तथा अन्यत्र विरोधिनी विशेषेण (तां) वर्जयेत्. यद्वा भगवति विहिते कार्ये स्वधर्माविरोधिनि प्रार्थना, तथा अन्यत्र स्वधर्माविरोधिनि (कार्ये) न कार्या इति.

^३ * ननु भगवत्प्रार्थनायामपि भगवांस्तु साक्षाद् न वदत्येव किमपि किन्तु आचार्योक्तसंकेतग्रहेण अनुमीयते “इदम् उक्तम्— इदं न उक्तम्” इति. तत्र जीवानाम् अविश्वासः सम्भावितः ! * इति चेत् तत्र आहुः

अविश्वासो न कर्तव्यः इति, आचार्योक्तमार्गे यदि अविश्वासः तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेद् इति अर्थः. अविश्वासस्य महाबाधकत्वानुसन्धानेन सर्वथा स न कार्येव इति अर्थः. विश्वासदाढ्यार्थं किञ्चित् स्मरणीयम् आहुः ब्रह्मास्त्रचातकौ इति, ब्रह्मास्त्रञ्च चातकश्च तौ भाव्यौ विश्वासाथं स्मरणीयौ. अत्र अयं भावो : यथा हनुमान् ब्रह्मास्त्रेण अप्रतिकार्येण बद्धोऽपि बन्धकानाम् अविश्वासेन मुक्तः. पश्चाद् उद्यमः सर्वोऽपि व्यर्थो जातः. अत्र अविश्वासस्य महादोषहेतुत्वे ब्रह्मास्त्रं दृष्टान्तः. विश्वासमात्रस्य सर्वकार्यसम्पादकत्वे चातको दृष्टान्तः. स यथा चातकः कश्चन पक्षी यथा वर्षासु महज्जलमपि अनास्वाद्य स्वातिजलम् अल्पमपि आस्वाद्य पुनः वर्षपर्यन्तं तत्प्रतीक्षया जीवन् यथापूर्वमेव तिष्ठति. तस्य तु सर्वं स्वातिबिन्दुविश्वासेनैव योगक्षेमादिनिर्वाहो यथा; तथा सर्वं विहाय आचार्योक्तमार्गविश्वासेन सर्वं भवेदेव इत्यत्र तात्पर्यम्.

^४ प्राप्तं स्वमार्गमर्यादया कर्तव्यत्वेन प्राप्तं सेवेत कुर्याद् इति अर्थः. निर्ममो निरहंकारः इति अर्थः. स्वयं बहुज्ञत्वाद्यभिमानेन आचार्योक्तौ कुसृष्टिकल्पनं न कार्यम् इति भावः. यथाकथञ्चिद् इति, लोकवेदकुलाचारप्राप्तानि कर्माणि येन केनापि प्रकारेण कुर्याद् न तु परित्यजेत्. उच्चञ्च, अवचञ्च, उच्चावचं, तानि उच्चावचानि उत्कृष्टनिकृष्टानि. यद्यपि भगवद्धर्मपिक्षया सर्वाणि अन्यानि कर्माणि हीनान्येव, तथापि लोकानुसारेण उत्तमाधमत्वं ज्ञेयम्. ईदृशामपि सर्वथा करणं भगवानेव आह “सहजं कर्म, कौन्तेय !, सदोषमपि न त्यजेत्” (भग.गीता.१८।४८) इति. आश्रयस्य विवेकधैर्यपिक्षया अत्यावश्यकत्वं कर्मज्ञानोपासनादिभ्योपि सर्वथा साधकत्वं च आहुः किं वा इति. वा इति पक्षान्तरे. विवेकधैर्याद्यक्षमस्य महापाप-पतितस्यापि यथोक्ताश्रयाश्रयणेनैव सकलपुरुषार्थसिद्धिः इति अर्थेन बहुना प्रोक्तेन पुनःपुनः वचनेन किम् ? न किमपि इति अर्थः.

अनुवाद :

^५ इस तरह अर्थात् विवेक आदिके स्वरूप जैसे कहे गये हैं

वैसेका चित्तमें सदा भलीभांति अनुसन्धान रखना चाहिये. वाणीसे भी स्वयंको और दूसरोंको समझानेको वचनोंके प्रयोगद्वारा परिकीर्तन भलीभांति उच्चारण करते रहना चाहिये. और अपनी कायासे भी इसके अनुरूप व्यवहार निभाना चाहिये.

^३ इसमें अन्यका भजन अर्थात् इसमें आश्रयकी साधनामें अन्यका अपने आश्रयरूप भगवत्स्वरूपसे अन्यका भजन सेवन स्वतोगमनं बिन बुलाये जाना उनके समीप जाना. और अन्यके साथ कायिक व्यवहार भी नहीं रखना चाहिये. किसी भी कार्यको कर्तव्यतया शास्त्रविहित स्वधर्मसे अविरुद्ध कर्तव्यके बारेमें प्रार्थना की जा सकती है. प्रार्थनीय तो भगवान् भगवान्के भक्त ही होते हैं. अतएव विष्णुधर्मोत्तरकी शंकरगीतामें “(मु.टी.पा.हरिकी आज्ञा लिये बिना) जो श्रेष्ठ मर्यादाको निभानेवाला किसी भी क्रियाका आरम्भ हरिको प्रणाम करनेके बाद ही करता हो उससे केशव तुष्ट रहते हैं” (वि.ध.पु.१।५१।२४) कहा गया है. ऐसे ही अन्यत्र अर्थात् जैसे अपने भगवान्के सामने प्रार्थना वैसे अन्यत्र स्वधर्मसे विरुद्ध प्रार्थना नहीं करनी चाहिये. अथवा भगवान्की प्रार्थना करनेका जहां विधान हो वहां स्वधर्मसे अविरुद्ध ही प्रार्थना करनी चाहिये, वैसे अन्यत्र स्वधर्मसे विरुद्ध किसी कार्यकी प्रार्थना नहीं करनी.

^{३*} ऐसी शंका हो सकती है कि भगवान्के सामने प्रार्थना करनेपर भी भगवान् साक्षात् तो कुछ भी आज्ञा प्रदान करते नहीं है किन्तु आचार्योक्त संकेतोंके आधारपर अनुमान ही करना पड़ता है “यह आज्ञा मिली—यह आज्ञा नहीं मिली”. इसमें तो साधारण जीवोंको अविश्वास हो सकता है!^{*} इसका निराकरण करते हैं अविश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि आचार्योक्त मार्गमें यदि अविश्वास हो तो किया-धरा व्यर्थ हो जाता है. अविश्वास तो महान् बाधक होता है ऐसा अनुसन्धान रख कर कभी नहीं करना चाहिये. विश्वास

दृढ़ हो पाये ऐसा कुछ याद दिलाना चाहते हैं ब्रह्मास्त्रचातकन्याय इति, ब्रह्मास्त्र और चातक की कथाकी भावना विश्वासकी दृढताके लिये याद रखनी चाहिये. वह कथा यों है : हनुमान्जी अप्रतीकार्य ब्रह्मास्त्रसे बंध गये थे तब भी बांधनेवालेके अविश्वासको पहचान कर उसे तोड़ कर मुक्त हो गये. और बादमें तो बांधनेवालेके सारे प्रयास व्यर्थ हो गये. अतः अविश्वास महान् दोषहेतु होता है इसमें ब्रह्मास्त्रका दृष्टान्त दिया. विश्वास रखनेपर सभी कार्य सम्पन्न हो पाते हैं उसमें दृष्टान्त चातक बनता है. यह पक्षी वर्षा ऋतुमें जल बरसता होनेपर भी उसे पिये बिना स्वाति नक्षत्रमें बरसते जलका ही पान कर वर्षभर पुनः प्यासा रहना पसन्द करता है. क्योंकि उसे अपने योगक्षेमार्थ स्वातिबिन्दुकी वर्षापि विश्वास अडिग होता है. ऐसे अपने सब कुछ छोड़ कर आचार्योपदिष्ट मार्गमें विश्वास रखनेपर सारे कार्य सिद्ध होंगे ही.

^४ जो कुछ सहज मिल जाये स्वमार्गकी मर्यादाके अनुरूप कर्तव्यतया उसका सेवन करना चाहिये. ममतारहित बिना किसी अहंकारके अर्थात् स्वयंके बारेमें बहुज्ञ आदि होनेका अभिमान रखे बिना आचार्योपदिष्टमें शंका-कुशंका नहीं करनी चाहिये. जैसा भी अर्थात् लोकतः या वेदतः या कुलाचारतः प्राप्त कर्मोंको जैसे-तैसे निभाने चाहिये उन्हें छोड़ नहीं देने चाहिये. ऊंचा-नीचा काम उत्कृष्ट या निकृष्ट. यद्यपि भगवद्धर्मोंकी तुलनामें अन्य सभी काम निकृष्ट ही होते हैं, फिरभी यहां लोकमें जिन्हें ऊंचा या नीचा काम माना जाता हो उस सन्दर्भमें प्रयोग किया गया है. ऐसे कामोंको निभानेकी आज्ञा भगवान्ने ही की है “जो कर्म सहज हो वह दोषयुक्त तब भी छोड़ना नहीं चाहिये” (भग.गीता.१८।४८) यहां. विवेक या धैर्य की तुलनामें आश्रय अत्यावश्यक होता है, कर्म ज्ञान या उपासनादि से भी अतः सर्वथा साधक होता है और क्या यहां और कह कर पक्षान्तर दिखला रहे हैं. विवेक-धैर्यको निभाने जो सक्षम न

हो महापापमें डूबा हुआ हो तब भी यथोपदिष्ट आश्रयके कारण सकल पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं अतः अधिक कहना पुनः पुनः एक ही बात करनेसे क्या लाभ ? कोई लाभ नहीं अर्थः.

अवतरणिका :

उपसंहरति :

कारिका :

एवम् आश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्॥

कलौ भक्त्यादिमार्गाः हि दुःसाध्याः इति मे मतिः ॥१७॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितो विवेकधर्याश्रयः सम्पूर्णः

भावानुवाद :

(ग्रन्थोपसंहार)

इस तरह आश्रय सभीके लिये सर्वदा हितकारी होता है. क्योंकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग ही दुःसाध्य हो गये हैं ऐसी मेरी मति है ॥१७॥

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणद्वारा विरचित विवेकधर्याश्रय सम्पूर्ण हुआ

दीपिका :

एवम् इति, एवम् अमुना प्रकारेण यद् आश्रयणं तत् प्रोक्तम् . आश्रयणरूपं वस्तु प्रोक्तम् इति अर्थः. सर्वेषां पतितापतित-स्त्री-शूद्र-साधारणानाम्. अतएव भगवतापि उक्तं “मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिम्” (भग.गीता.४।३०) इत्यादिना. सर्वदा समयानियमेन. हितम् सौख्यसम्पादकम्.

* ननु भक्तिज्ञानकर्मादिषु सत्सु सर्वं विहाय कथं तदेकपरतया स्थेयम् ? * इत्यतः आहुः कलौ इति, भक्तिः आदिः येषां, कर्मज्ञानादयो दुःसाध्याः देशकालद्रव्यादिसाधनवैगुण्येन कर्तुं न शक्याः इति अर्थः. हि शब्दो लोकवेदप्रसिद्धिद्योतनार्थः. ननु लोके भवतु भक्त्यादीनाम् अस्माकं तदकरणे किम् आयातम् ? इति विशेषजिज्ञासायां स्वसम्पत्तिम् अस्मिन् अर्थे विश्वासार्थम् आहुः मे मम मतिः सम्पत्तिः इति अर्थः.

न शक्यं मे विवेकादिनिरूपणम् अथापि तु॥

त्वत्पदाम्बुजसन्ध्यानाध्यस्ताधीः कृतवान् अहम्॥३॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणशरणश्रीमद्वल्लभाचार्यकृतौ

विवेकधर्याश्रयदीपिका

समाप्ता

अनुवाद :

अब विवेकधर्याश्रय ग्रन्थका उपसंहार करनेको कहते हैं :

इस तरह अर्थात् जैसा कि कहा गया वैसे प्रकारसे जो आश्रय वह तो कहा गया. आश्रयरूप वस्तु कही गयी यह आशय है. सभीके लिये चाहे कोई पतित हो या अपतित, स्त्री हो शूद्र हो सर्वसाधारण जनोंके लिये. अतएव भगवान्ने भी कहा है “मेरा आश्रय ले कर कोई पापयोनिये जन्मा हो या स्त्री हो वैश्य हो या शूद्र हो ये सभी परा गतिको पा जाते हैं” (भग.गीता.४।३०) इत्यादि वचनोंमें. सर्वदा इस विषयमें कोई समयकी मर्यादा नहीं है . हित अर्थात् सौख्यसम्पादक. * भक्ति ज्ञान कर्मादि उपायोंके रहते उन्हें छोड़ कर क्यों भगवदेकपरतया रहना चाहिये ? * इसका उत्तर देते हैं कलियुगमें अर्थात् भक्ति आदिमें हो ऐसे जो कर्म ज्ञान आदिके मार्ग दुःसाध्य देश काल द्रव्य आदि साधनोंके प्रभावहीन हो जानेके कारण अपनाये जाने कठिन हो गये हैं. ही पदका प्रयोग यह बात लोकवेदमें प्रसिद्ध

है यह जताने कही गयी है. हो सकता है कि जगत्में भक्ति आदि साधन दुःसाध्य हो गये हों हमारे करने-न करनेसे क्या फर्क पड़नेवाला है? अतः इस तरहकी जिज्ञासा होनेपर अपनी सम्मति इस बारेमें विश्वास दिलानेको कहते हैं कि ऐसी मेरी मति सम्मति है.

विवेक आदिका निरूपण करना मेरेलिये शक्य तो नहीं था फिरभी तुम्हारे चरणकमलोंके सन्ध्यानके अध्यासवाली बुद्धिके बलपर ही मैं कर पाया हुं॥३॥

इस तरह श्रीमद्वल्लभनन्दनके चरणशरण श्रीमद्गुणाथकी कृतिमें
विवेकधैर्याश्रयदीपिका
समाप्त हुयी



॥ नवरत्न ॥

ग्रन्थपरिचय

एक किंवदन्तीके अनुसार नवरत्न ग्रन्थकी रचना श्रीमहाप्रभुने वि.सं १५५८में अडैलमें की थी. यह ग्रन्थ खेरालुग्रामके गोविन्द दवे सांचोराके लिए लिखा गया था.

प्रारम्भसे ही गोविंद दवेकी मनोवृत्ति वैराग्यप्रधान थी. अल्पवयमें ही ये अपने माता-पिताको छोड़कर तीर्थयात्रार्थ द्वारका पहुंच गये थे और बादमें वहीं रहने लग गये थे. भावप्रकाशके अनुसार ये मर्यादापुष्टिके जीव थे और तदनुरूप इनकी द्वारकालीलामें आसक्ति अधिक थी. द्वारकास्थ श्रीरणछोडजीके स्वरूपमें भी अतएव इनकी अत्यधिक आसक्ति थी. अपने माता-पिताके देहावसानके बाद ये श्राद्ध करने गया गये थे. लौटते समय मार्गमें मनिकर्णिकाघाटपर इनकी भेंट श्रीमहाप्रभुके साथ हुई. दर्शन करते समय इन्हें इच्छा हुई कि श्रीमहाप्रभुके पास रहकर कुछ विद्यार्जन करें. अनुमति मिलनेपर कहींसे व्याकरणकी पोथी ले आये पर श्रीमहाप्रभुने मूल गीताके अध्यापन द्वारा ही संस्कृत भाषा, व्याकरण एवम् सिद्धान्त का भी ज्ञान इन्हें प्रदान कर दिया. इससे प्रभावित होकर ये पुष्टिमार्गमें दीक्षित हुए और आज्ञानुसार घर लौटकर भगवत्सेवामें प्रवृत्त होगये.

८४ वैष्णवनकी वार्तिके अनुसार : गोविन्द दूबे घरमें सेवा करे परन्तु मनमें बहुत विग्रह (व्यग्र) रहे सो सेवामें चित्त लागे नहीं. तब गोविन्द दूबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखें-“महाराज! मेरे मनमें बहुत विग्रह रहत है. भगवत्सेवामें चित्त लागत नहीं सो कहा करूं?” सो पत्र श्रीआचार्यजीके पास आयो सो आप वांचिके नवरत्न ग्रन्थ

करि लिख पठाये. और लिखें “यह नवरत्न ग्रन्थको पाठ किये तेरे मनकी विग्रहता (व्यग्रता) मिटि जायेगी” सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपाते व्यग्रता-चिन्ता सब मिटि गई. मन भगवत्सेवा करनेमें लागे.

इस प्रसंगका निगूढ आशय श्रीहरिरायचरणने भावप्रकाशमें बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है-“गोविन्द दूबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारिकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना ब्रजकी करें. सो मन लागे नहीं. न राजलीलामें दृढता होई न ब्रजलीलामें. सो अनेक साधनमें मन दोरे. जो तीर्थ करूं के व्रत करूं, कोई जप करूं इत्यादि मन भटके सो श्रीआचार्यजी महाप्रभु नवरत्न ग्रन्थ लिखि पठाये-“तु चिन्ता मति करें. चित्तकी उद्वेगता है यह प्रभुलीला जानि-श्रीठाकुरमें ते मन औ ठोर जाये सोउ भगवदिच्छा मानि-चिन्ता मति करियो. जितनी बने तितनी सेवा करियो. तब गोविन्द दूबेको मन स्थिर हो गयो. जहां मन लौकिक वैदिक में जाई तो भगवदिच्छा मानें. श्रीरनछोडजीमें मन बहोत जाई सो भगवदिच्छा माने. उहांकी लीलामें मग्न रहे. काहेते? शास्त्र पुरान अनेक उपाई प्रभुमिलनके कहें हैं. जीवकों मिसमात्र मार्ग दिखाये. जो जहांको अधिकारी है वामें वाको मन स्वतःसिद्ध लागत है.

ताते जैसे मनुष्य गैल चलिवेवारो दस गामके मारग बतावें परन्तु जाकों जा गाम जानो होई सोई गाम जात है. तैसे ही कोई भगवदीय द्वारा कोई गुरु द्वारा कोई ईश्वर द्वारा जैसो अधिकारी तैसो संग पाय उही मार्गमें भाव वाको दृढ होत है. सो गोविन्द दूबेको श्रीरनछोडजीमें दृढ भाव भयो.”

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें मार्गभेदका निरूपण किया ही गया है. सभी जीवोंके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं. स्वयम् पुष्टिमार्गमें भी भगवान्के पास पहुंचनेकी अनेक दिशा या सरणी हैं. जिस दिशामें सहजतया

हम चल पाते हों उसी ओर हमारे चलनेका प्रयास निरायास होता है। अपने स्वभावके अनुरूप सहजतया जिस मार्गपर हम चल सकते हैं, उसे छोड़कर अन्यान्य फलोंकी कामनाके वश या मिथ्या अनुकरणकी मनोवृत्तिसे, जब हम अपने स्वभावविपरीत मार्गपर चलना चाहते हैं, तो उस आयासमें चिन्ता उद्वेग या व्यग्रता से मनका ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक बात है।

पुष्टिपथके पथिक स्वयम् अपने स्वरूपका या अपने कर्तव्यके स्वरूपका अथवा अपने भजनीय भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन करें यह तो स्वाभाविक तथा आवश्यक ही है। इस चिन्तनका स्थान परन्तु अस्वाभाविक चिन्ता लेने लग जाये तो वह श्रीमहाप्रभुको नहीं सुहाता। क्योंकि चिन्ताका मूल हमारी आस्था भक्ति तथा स्वीकृति की मनोवृत्तिमें न होकर अनास्था उद्विग्नता तथा अस्वीकृति की मनोवृत्तिमें होता है। भगवान्‌की शरणागति स्वीकारनेके बाद सब कुछ ऐहिक या पारलौकिक भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिये। भगवान्‌ तो सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वहितैषी-सर्वसुहृद् कर्ता-कारयिता अचिन्त्य-लीला-विहारी हैं। इस भावभूमिपर संशय चिन्ता या प्रार्थना के विषेले अंकुर फूट ही नहीं सकते। जो कुछ घटित हो रहा है उसे लीलाबोधके साथ स्वीकारनेमें ही वास्तविक विवेक समाहित है। भगवान्‌की कृपासे भगवत्सेवा या भगवत्कथा में जितना भी चित्त तन्मय होता चला जाये उसमें अधिकाधिक आनन्द लेते जानेकी मनोवृत्ति एक स्वस्थ स्वीकृतिकी मनोवृत्ति है। जबकि अनधिकार चेष्टाके द्वारा जो आदर्श तन्मयता हमें प्राप्त नहीं हुई हो, उसके बारेमें चिन्ता या उद्वेग की मनोवृत्ति अस्वस्थ अस्वीकृतिकी मनोवृत्ति है। प्राप्तसे अधिकका मनोरथ अस्वाभाविक नहीं होता परन्तु अप्राप्तकी चिन्ता या तज्जन्य उद्वेग एक अस्वाभाविक मनोवृत्ति है। इसी तरह लौकिक या वैदिक योगक्षेमके बारे में भी निरन्तर चिन्ता करते रहना एक भक्तिविरोधी मनोभाव है।

अतः भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु इस

नवरत्न ग्रन्थके द्वारा सभी तरहकी चिन्ताओंसे मुक्त करना चाहते हैं।

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अधिकार जैसे गायत्री-मन्त्रके उपदेशग्रहण करनेसे मिलता है, वैसे ही पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाका अधिकार ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षासे प्राप्त होता है। आत्मनिवेदनकी सार्थकता भगवत्सेवाके सम्पन्न होनेपर ही होती है। अपने लौकिक व्यवहार भी अतएव यावत्शक्य भगवान्‌की सेवामें उपयोग लाये हुए पदार्थोंसे चलाने चाहिये। इसमें भी प्रयोजन पुनः भगवत्सेवाका निर्द्वन्द्व निर्वाह ही होना चाहिये। भगवान्‌को दानरूप किसी वस्तुके भेंट करनेपर उसे पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित है पर निवेदितके समर्पणकी प्रक्रियामें किसी वस्तुको पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित नहीं है। प्रत्युत यही प्रकार अनुसरणीय है। अन्यथा भगवान्‌को निवेदित अन्न आदिका भी प्रसादके रूपमें पुनर्ग्रहण वर्जित मानना पड़ेगा। जबकि सिद्धान्तरहस्यमें असमर्पित वस्तुके त्यागका ही विधान किया गया है। अतः आत्मनिवेदीके लिए यह सर्वथा उचित बात है कि प्रभुको समर्पित सभी वस्तुओंका कमसे कम एकबार भगवान्‌की सेवामें पहले विनियोग करे और तब अपने उपभोगार्थ उसे ग्रहण करे। इस नियमके पालनसे आत्मशुद्धि होती है।

परन्तु अन्न वस्त्र आदि वस्तुओंके एकबार भगवान्‌की सेवामें काममें आ जानेपर दुबारा उन्हे जुटानेका प्रयास करना चाहिये कि नहीं? यदि नहीं करते तो आगे सेवाका भी स्वरूप नहीं निभ पायेगा और यदि करते हैं तो वह तो दुनियाकी रीतके अनुसार ही करना पड़ेगा। और उस उपार्जनकी प्रक्रियामें पुनः संसारमें उलझना पड़ेगा तो सेवामें भी विघ्नकी सम्भावना है। इस तरहकी चिन्ता भगवद्भक्तके मनमें उठ सकती है। स्पष्ट है कि ऐसी चिन्ता स्वार्थप्रेरित नहीं होती किन्तु भगवत्सेवार्थ ही होती है। पर श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तको न तो स्वार्थपूर्तिके लिए और न भगवत्सेवार्थ ही चिन्ता करनी चाहिये।

आत्मनिवेदीके लिए यह आवश्यक है कि जीवनमें सुख-दुःख जो भी आयेँ उन्हें भगवदिच्छा मानकर सहजतया स्वीकार ले, चिन्ता कदापि न करे. लौकिक व्यवहारको निभानेके लिए लौकिक प्रयासोंमें व्यापृत होनेपर यह सम्भव है कि मर्यादामार्गीय वैराग्य न भी सिद्ध हो. भगवान्ने, किन्तु, पुष्टिमार्गमें हमारा अंगीकार किया है. अतः प्रवाहमार्गीय लौकिक गति पुष्टिजीवकी होने नहीं देंगे, यह दृढ़ आस्था हमें रखनी चाहिये.

भगवत्सेवा निभाने के लिए व्यापार या नौकरी आदि करनेपर सम्भावित बहिर्मुखतासे बचनेका उपाय है, अपने आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना कि “मैं कृष्णका हुं - कृष्णका दास हूं.”

किसी विषम स्थितिमें सेवा न निभ पाती हो तब भी अन्य आत्मनिवेदी भगवदीयोंके सत्संगद्वारा इस आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना नितान्त आवश्यक है. क्योंकि यह स्मृति मानस-पटलपरसे मिटी और तुरत असुरावेशकी सम्भावना प्रबल हो जाती है.

आत्मनिवेदन करनेवाले सभी पुष्टिजीव चाहे वे उच्चकक्षाके हों या निम्न कक्षाके सभीका सम्बन्ध तो दासके रूपमें भगवान्के साथ जुड़ ही गया है. फिर चिन्ता किस बातकी? भगवान् हमारे स्वामी हैं वे जो भी निजेच्छासे करें वह हमें स्वीकार्य होना चाहिये. और फिर भगवान् तो भक्तवश भी हैं. अतः अपने भक्तोंकी विकाररहित सारी मनोकामना भगवान् बिना किसी प्रार्थनाकी अपेक्षाके स्वयमेव पूर्ण करेंगे. यह आस्था हमें रखनी चाहिये और चिन्तासे छुटकारा पाना चाहिये.

आत्मनिवेदन तो हम भगवान्को करते हैं पर सेवा तो हमें अपने स्त्री-पुत्र-परिवारकी भी करनी ही पड़ती है. ऐसी चिन्ता भी

आत्मनिवेदीको नहीं करनी चाहिये. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके समय हम केवल अपना ही नहीं अपितु सम्पूर्ण परिवारका भी भगवान्को समर्पण कर देते हैं. अतः हमसे सम्बन्धित सभी कुछ प्रभुका अर्थात् ब्रह्मसे सम्बन्धित हो जाता है. अतः उनका भरण-पोषण या संरक्षण भक्तिविरोधी भाव या व्यवहार नहीं गिना जाता. फिर चिन्ता क्यों करनी चाहिये?

परिवारके सदस्य यथा पति-पत्नी माता-पिता य सन्तति आदि, यदि भगवत्सेवामें सहायक न होकर अन्यान्य सांसारिक कार्योंमें व्यस्त रहते हों, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. क्योंकि हमारा कर्तव्य है उन्हें प्रभुको समर्पित करना. सो वह कर देनेपर सब कुछ भगवदिच्छापर अवलम्बित है कि कब वे उन्हें अपनी सेवामें काममें लायें. सहज सद्भाव तथा प्रेरणा से उन्हें भगवत्सेवामें प्रवृत्त कराया जा सकता हो तो अच्छी बात है. अन्यथा उनकी भगवत्सेवामें रूचि या प्रवृत्ति न दिखलायी पड़ती हो तो व्यर्थ चिन्ता कलह या क्लेश करना भक्तिविरोधी भाव है.

कभी यह भी सम्भव है कि हमें ऐसे व्यक्तियोंके काम आना पड़े जिनके बारेमें ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय उन्हें भगवान्को समर्पित करनेका मनोभाव हमारे अन्दर सर्वथा न हो. पर इससे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि एक बार सर्वात्मना प्रभुके प्रति समर्पित हो जानेपर, चाहे वह समर्पण ज्ञानपूर्वक न भी हो परन्तु चिन्ताका कोई कारण रह नहीं जाता.

कभी-कभी हमें विश्वास नहीं होता कि हमारे आत्मनिवेदनको प्रभुने सुना कि नहीं. हमने तो सब कुछ समर्पित कर दिया पर भगवान्ने उसे स्वीकारा कि नहीं. यह चिन्ता भी निरर्थक है. क्योंकि श्रीकृष्ण तो पुष्टिपुरुषोत्तम है अतः जैसे ब्रजभक्तोंका अन्याश्रय छुड़ाकर

स्वयमेव अपने भजनमें उन्हें प्रवृत्त करते हैं, वैसे ही जब और जिस क्षण वह अपने भजनमें हमें प्रवृत्त करना चाहेंगे उस क्षण स्वतः ही हमारा तथा हमसे सम्बन्धित सभी वस्तु या व्यक्ति का उनकी सेवामें विनियोग अनायास सम्पन्न हो जायेगा. यदि भगवदिच्छा पुष्टिमार्गमें हमारे अंगीकारकी न हो तो हम आत्मनिवेदन भी नहीं कर पायेंगे. प्रभु तो सर्वसमर्थ हैं अतः हमारी सारी अयोग्यताओंको दूर कर बिना किसी साधनकी अपेक्षाके हमें योग्य भी बना सकते हैं. अतः हम निवेदन या समर्पण के योग्य हैं कि नहीं ऐसी चिन्ता भी पुष्टिभक्तको नहीं करनी चाहिये.

जब लौकिक व्यापार आदिमें कोई कठिनाई उपस्थित हो या वैदिक वर्णाश्रम धर्मके पालनमें कोई कठिनाई उपस्थित हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. प्रत्युत यह समझना चाहिये कि भगवान् अधिकाधिक भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर हमारे सामने उपस्थित कर रहे हैं.

आओ! सारे पुष्टिजीव आओ! और ऐसी विषम स्थितिमें भी अपनी पुष्टिभक्तिको निभानेका यत्न करो. लौकिक या वैदिक व्यवहारोंमें स्वास्थ्यका क्या मूल्य यदि पुष्टिभक्तिका स्वास्थ्य न हो? भगवान् यदि लौकिक दृष्टिसे या वैदिक दृष्टिसे कुछ विषमस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित करते हों तो निश्चिन्त होकर उन्हें सहन कर लेना चाहिये. क्योंकि संभवतः इसी तरह भगवान् हमें पुष्टिमार्गपर अग्रसर करना चाहते हों!

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही भगवत्सेवा करनी चाहिये. परन्तु भगवदिच्छावश या भगवदाज्ञावश सेवाके प्रकारमें कुछ भिन्नता भी आ जाये तो चिन्ताकी कोई बात नहीं है. गुरुकी आज्ञाके अनुसार हो अथवा भगवान्की आज्ञाके अनुसार हो जैसे

भी कृष्णसेवामें तत्परता बढ़ती चली जाये वही जीवनप्रणाली सुखप्रद होती है.

निश्चिन्तताके इन सारे सिद्धान्तोंको जाननेके बावजूद भी कभी-कभी पारिवारिक कष्ट व्यक्तिको झकझोर देता है. उदाहरणतया पुत्र पति या पत्नी के वियोग होने पर मनस्ताप हो ही जाता है. पर जो भी कुछ घटित होता है उसे भगवल्लीलाके बोधके साथ सहजतया स्वीकार लेनेकी मनोवृत्ति सम्पादित करनी चाहिये. चिन्ता उद्वेग या मनस्ताप से जितनी भी जल्दी छुटकारा पाया जा सके उसे पानेकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये.

भक्तिके नौ सोपान दिखलाये गये हैं- श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन. इनमें अपेक्षित प्रकारसे श्रवण कीर्तन जैसे प्राथमिक सोपानोंपर भी आरोहण करना एक कठिन कार्य है, तो अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन और उसके बाद प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तताकी मानसिक अवस्थाका लाभ तो अत्यधिक कठिन लगता है! परन्तु आवश्यकता इस कठिनताके विचारसे चिन्ताकी नहीं प्रत्युत सर्वात्मना शरणागतिके मनोभावको बनाये रखनेकी है. ऐसी निरर्थक चिन्ताओंमें जितने समय तथा मनोयोग का व्यय हो जाता है, उतने समय तथा उतने मनोयोगसे निरन्तर “श्रीकृष्णः शरणं मम” कहते रहें तो बात बन सकती है.

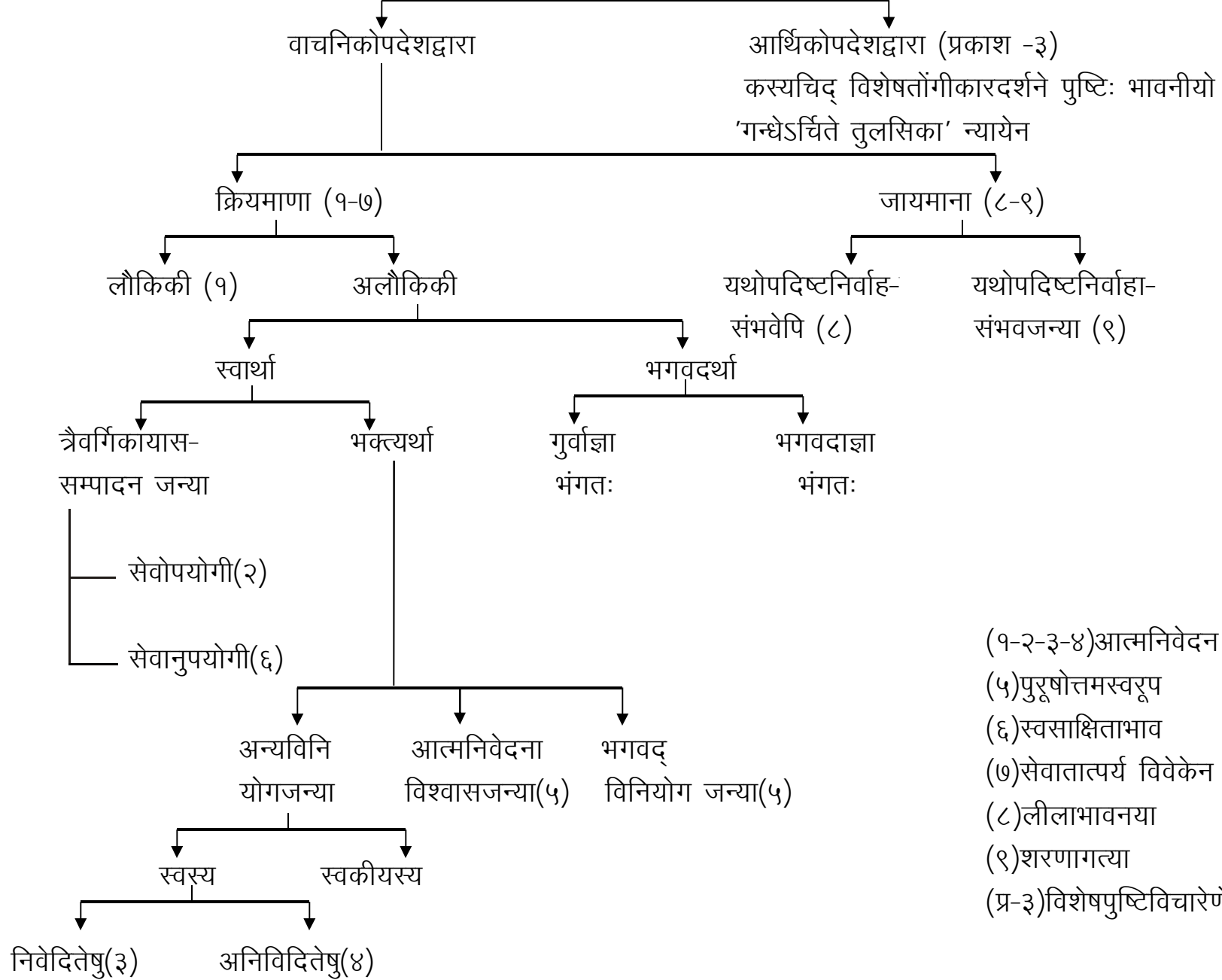
यह आश्वासन-यह अभिमत केवल गोविन्द दूबेके लिए नहीं अपितु सभी पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु दे रहे हैं.

भगवद्-विप्रयोगकी स्नेहात्मिका अनुभूतिमें पुष्टिजीवका कृश होना तो परमपुष्टि है- “तिहारे सेवक ऐसे कृश क्यों?” “बरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे हैं!” यह कृशता तो पुष्टिभक्तिके

स्थायिभावका एक रोचक सञ्चारिभाव है. अतः रसवर्धक भी है. पर भक्तिके स्थायिभावके विपरीत चिन्ता या उद्वेग रसाभास पैदा करते हैं. रसाभास पैदा करनेवाले चिन्ताके इन्हीं विविध प्रकारोंमें से कुछ प्रकारोंको यहां सूचित किया गया है. श्रीमहाप्रभु पुष्टिभक्तके मानसको इनसे दूषित होनेसे बचाना चाहते हैं. ताकि कृष्णसेवा तनु-वित्तजासे मानसी सेवाके रूपमें विकसित हो पाये - आत्मनिवेदनका बीजभाव भगवत्प्रेममें अंकुरित हो पाये - भगवदासक्तिमें पल्लवित हो पाये और अन्ततः भगवद् - व्यसनमें वह फलित हो जाये !



नवरत्नोपदेशद्वारा निवर्तनीया चिन्ता



॥ श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ॥

नवरत्नम्
(समर्पणोपदेशपरम्)

॥ गो.श्रीविठ्ठलेश्वरविरचित प्रकाशके साथ ॥

नवरत्न
(समर्पणका उपदेश)

प्रकाशमंगलाचरण :

चिन्ता सन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः ॥
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१॥

भावानुवाद :

किसी भी एक चिन्तामेंसे होती अनेक चिन्ताओंको खतम करनेवाली जिनकी चरणकमलकी रज होती हैं॥

अपने सभीके ऐसे अपने आचार्यको मैं बारंबार प्रणाम करता हुं॥१॥

प्रकाशोपक्रमः :

* ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः ? इत्थम् : आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे. तत्र च ऐहिकपारलौकिकयोः अर्थयोः नावशिष्टं किञ्चिद् असमर्पितम्. एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः किं निवेदितार्थेन उत इतरेण वा ? तत्र न आद्यः, तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुम् अशक्यत्वाद्, इच्छायाः च ज्ञातुम् अशक्यत्वात्. वस्तुतस्तु इच्छायामपि सत्यां तदुपयोगो अनुचितः सेवकस्य. नच * तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषाय * इति वाच्यं, स्वतः तथाकृते: दोषावहत्वात् तदिच्छायाः च ज्ञातुम् अशक्यत्वाद् इति उक्तम्. न द्वितीयो, अस्वधर्मत्वात्. निवेदितस्य अर्थस्य स्थित्याद्यर्थं स्वस्य विचारस्यापि अनुचितत्वात् ; तदभिमाने तत्सम्भवात्.

एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात् तद्वैयर्थ्यापातो, मार्गएव च अयम् उच्छिद्येत. अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाहइति उभयतःपाशारज्जुः * इति चेद्

अनुवाद :

* यहां यह शंका उठती है कि भगवदीयोंको तो चिन्ता क्यों होनी चाहिये ?

भगवदीयोंको भी ऐसी चिन्ता हो सकती है : जिन्होंने भगवान्को आत्मनिवेदन किया हो वे भगवद्भजनके अधिकारी होते हैं, दूसरे कोई नहीं. आत्मनिवेदन कर देनेपर तो ऐहिक या पारलौकिक में ऐसा कुछ भी बच नहीं जाता भगवान्को समर्पित न हो. ऐसी स्थितिमें देहादिका निर्वाह कैसे करना क्या निवेदित पदार्थोंके उपभोगद्वारा या अनिवेदित पदार्थोंसे? इनमें निवेदितका उपभोग, जिन भगवान्को निवेदित किया गया उनकी संमतिके बिना कैसे करना और भगवान्की इच्छा जाने बिना अपने उपभोगमें लेना तो अशक्य लगता है. और भगवान्की इच्छाको जान पाना भी शक्य नहीं. वस्तुतः तो इच्छाका ज्ञान होनेपर भी एक बार जिसे भगवान्को निवेदित कर दिया गया हो उसे पुनः अपने उपभोगार्थ लेना तो अनुचित है, कमसे कम सेवकके लिये. * भगवदीयोंके देहादिका निर्वाह भगवान्को निवेदित पदार्थोंके उपभोग द्वारा करनेमें कोई दोष क्यों मानना? * ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि स्वतः वैसे करना दोषरूप लगता है और भगवान्की इच्छा जानी नहीं जा सकती. इसी तरह अपने धर्मसे विरुद्ध होनेके कारण अनिवेदित पदार्थोंका उपभोग भी अनुचित लगता है. अपने निभावके लिये भगवान्को निवेदित पदार्थके उपयोगका तो विचार भी अनुचित लगता होनेसे; अपने देहादिको निभाना देहादिके अभिमानके कारण संभव होता है. इस तरह तो देहके ही खतम होनेकी संभावनामें भगवान्का भजन भी असम्भव बन जानेसे आत्मनिवेदन ही व्यर्थ लगने लगता है. इस मार्ग ही के उच्छेदकी यह स्थिति लगती

है. अत जिस निवेदनके कारण भगवान्‌के भजनका अधिकार मिलता है उसी अधिकारके कारण भजनको निभा पाना अशक्य भी बन जाता होनेसे भारी दुविधा ऐसे प्रतिपादनमें उभरती है ❀ ऐसी शंकाका समाधान करते हैं

प्रकाश :

अत्र वदामो : “दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्, एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते” (भाग.पुरा.११।३।२८) इत्यादिवाक्यैः तद् आवश्यकं, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वाद्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत्. (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्ध्यर्थम् आवश्यक-व्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः.) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षणएव तन्निवेदने अकृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः. अपरञ्च दानेहि न स्वविनियोगो, नतु निवेदने. अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्याद् अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्. निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तददत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिः उचिततरा, दासधर्मत्वात्. “उच्छिष्टभोजिनो दासाः” (भाग.पुरा.११।६।४६) इत्यादिवाक्यैः आत्मशोध-कत्वात् च किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जाते अग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो नवा इति भवति चिन्ता, तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धः च. “त्रैवर्गिकायास...” (भाग.पुरा.६।११।२३) इति वाक्याद् भगवत्कृतप्रति-बन्धश्च तत्र स्याद् अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम्. एवम्भूतान् स्वान् उपदिशन्ति :

अनुवाद :

“पत्नी संतती घर प्राण को परमात्माको निवेदन करनेवाले आत्मनिवेदी मनुष्योंको परमात्मामें ऐसी भक्ति प्रकट होती है कुछ और करना बाकी नहीं रह जाता” (भाग.पुरा.११।३।२८) ऐस वचनोंके आधारपर निवेदन करना तो आवश्यक है ही, साक्षात् श्रीगोकुलेशके भजन करनेका

अधिकाररूप होनेके कारण, वैदिक कर्ममें जैसे द्विजोंको गायत्रीमन्त्रके उपदेशग्रहणके संस्कारके कारण अधिकार मिलता है वैसे ही (किये गये निवेदनको सार्थक बनानेको, भजनको निभाने; और, आवश्यक व्यवहार निभानेको भी निवेदित पदार्थोंसे अपना काम चलाना चाहिये.) अन्यथा विवाह करनेके बाद अपनी पत्नीका निवेदन न करनेपर उसके साथ दाम्पत्य निभाना भी अनुचित हो तो विवाह ही व्यर्थ सिद्ध होगा. दूसरी बात यह है कि भगवान्‌को कुछ दान/भेंटके रूपमें देनेपर अपने उपयोगार्थ लेना अनुचित होता है परन्तु, ऐसा परन्तु निवेदन करनेपर माना नहीं जा सकता. अन्यथा भगवान्‌को निवेदित अन्नादिका भोजन करना भी अनुचित होता और अनिवेदित अन्नका भक्षण तो निषिद्ध होता है. अतः निवेदित पदार्थोंके भगवान्‌के काममें उपयोग आ जानेपर भगवान्‌के द्वारा दिये गये प्रसादके रूपमें अपने उपभोगार्थ लेना उचिततर होता है, दासधर्म होनेके कारण “भगवान्‌के दास भगवान्‌के उच्छिष्ट = प्रसादका भोग करते हैं” (भाग.पुरा.११।६।४६) ऐसे वचनोंके आधारपर वह आत्माको शुद्ध करता होनेसे. अतः इस विषयमें चिन्ताका कोई कारण न होनेपर भी भगवान्‌को निवेदित पदार्थोंके भगवत्सेवामें विनियोग और ऐसे प्रसादके उपभोगके बाद पुनः जुटानेका यत्न करना कि नहीं ऐसी चिन्ता होती है, क्योंकि सेवा छोड़ कर पुनः जुटाने जानेपर भगवत्सेवामें प्रतिबन्ध पैदा करनेवाली बहिर्मुखताकी संभावना बनी रहती है. “भगवान् अपने भक्तोंको धर्मानुष्ठान धनोपार्जन और कामनापूर्ति में रचने-पचने नहीं देते...” (भाग.पुरा.६।११।२३) ऐसा भागवतमें कहा गया होनेसे स्वयं भगवत्कृत प्रतिबन्ध भी हो सकता है. और इन्हें जुटाये नहीं तो भगवान्‌की सेवामें भी आगे चल कर भगवान्‌को क्या निवेदित करना उसका दुःख हो सकता है. ऐसी चिन्ता करनेवाले अपने स्वमार्गीयोंको उपदेश देना चाहते हैं :

कारिका :

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति॥

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्॥१॥

भावानुवाद :

जिन्होंने आत्मनिवेदन किया हो उन्हें किसी भी तरहकी चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये॥

क्योंकि पुष्टिमार्गमें आराध्य बननेवाले भगवान् भी भक्तकी कभी लौकिक गति नहीं करेंगे॥१॥

प्रकाश :

चिन्ता कापि न कार्या इति. लौकिकतदभावेऽपि भगवदर्थपि सा न कार्या. एतद् आहुः कापि इति शब्देन, अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वतएव करिष्यति इति विश्वासो यतः तस्य आवश्यकः. भगवतोऽपि तथा नियमः. कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुः चेद् विलम्बते, तदापि न कार्या इति आहुः कदापि इति पदेन. * ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्! * तत्र आहुः भगवानपि इति, यतः भगवानपि पुष्टिस्थो अतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेऽपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेन अङ्गीकारात् तथा न करिष्यति इति अर्थः॥१॥

अनुवाद :

चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये . लौकिक चिन्ता तो नहीं परन्तु भगवान् के बारेमें भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. अतः कहते हैं किसी भी तरहकी , क्योंकि भगवान् भक्तके रूपमें अपनानेके बाद सभी कुछ स्वयमेव करते हैं ऐसा विश्वास भक्तको रखना चाहिये. भगवान् की भी नियम तो यही है. कभी परीक्षाके हेतु अथवा प्रारब्धके फल भोगद्वारा खतम करनेको भगवान् विलम्ब करते हों तब भी चिन्ता तो करनी अच्छी बात नहीं है. इसलिये कहते हैं कभी . * शंका हो सकती है कि साधारण लोगोंकी तरह कुटुम्ब आदिमें भक्तकी आसक्ति देख कर लौकिक गति प्रभु क्यों नहीं करेंगे! *

इसका जवाब भगवान् भी कह कर दिया, क्योंकि भगवान् भी पुष्टिमार्गमें आराध्य बन जानेपर मर्यादामार्गीय वैराग्य आदि न भी हो तब भी 'महापुरुषके द्वारा निवेदित' भक्त है ऐसा मान अपनाते होनेके कारण ऐसा बरताव नहीं करेंगे॥१॥

अवतरणिका :

एवं चेत् स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्याद् अतः आहुः :

कारिका :

निवेदनन्तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैः जनैः॥

सर्वेश्वरश् च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति॥२॥

भावानुवाद :

अपने आत्मनिवेदनका तो स्मरण ऐसे आत्मनिवेदितात्माओंको बनाये रखना चाहिये सर्वथा॥

और सभी कुछ जो कुछ सर्वेश्वर सर्वात्मा भगवान् को करना है वह तो भगवान् स्वयं निजेच्छाके अनुसार करेंगे॥२॥

प्रकाश :

निवेदनन्तु इति, सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यति इति भावः. अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपि इदं कार्यमेव इति ज्ञापनाय तु शब्दः. चकारपक्षे समुच्चयः. सर्वथा इति अस्य आवश्यकत्वज्ञापनाय. अथवा सर्वथा ये तादृशाः निवेदितात्मत्वेन तत्पराः तैः सह तथा. एतेन संगदोषो निवारितः. अतादृशेषु एतद्गोपनं सूच्यते. सर्वदा इति पाठे कालापरिच्छेदः तत्र उच्यते. अन्यथा तदैव आसुरप्रवेशः स्याद् इति भावः. कदाचिद् अलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्धचर्थं प्रभुः प्रार्थनीयः! इति प्रश्ने 'न' इति आहुः सर्वेश्वरः इति. अत्र 'सर्व'शब्दो निवेदितात्मसर्वपरो, यथा, "सर्वे ब्राह्मणाः भोजयितव्याः" इत्यत्र निमन्त्रिताएव 'सर्व'पदेन उच्यन्ते, नतु अन्येऽपि. 'सर्वात्म'पदेऽपि एवं ज्ञेयम्. तेन सेवकाः सर्वे

यथा-यथा प्रपन्नाः, तथा-तथा प्रभुरपि तेषु अंगीकृतस्वामित्वेन आत्मीयत्वमेव तेषु मनुते इति तद्वितकृतौ न प्रार्थनाम् अपेक्षते इति ज्ञाप्यते. अथवा कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोऽपि प्रतिबन्धसम्भवः इच्छायाम् इति ज्ञापनाय 'सर्व'पदं कालादिपरम्. प्रार्थितोऽपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनापि अप्रयोजिका इति ज्ञापनाय निजेच्छा इति उक्तम्. अथवा निजाः=स्वीयत्वेन अङ्गीकृताः सेवकाः, तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेव अपेक्षितं करिष्यति इति न प्रार्थनापेक्षा इति अर्थः. परन्तु इच्छायाः अविकृतत्वमेव अपेक्षितम् इति ज्ञापनाय अव्यय('तः')प्रयोगः ॥२॥

अनुवाद :

ऐसी छूट मिल जानेपर तो सभी स्वच्छन्दाचरणमें जुट जायेंगे और यों बहिर्मुख बन जायेंगे अतः समझाते हैं :

निवेदन, सदा सभी तरह स्वयंके भगवान्को निवेदित होनेका अनुसन्धान निभानेपर भगवान् स्वच्छन्द बनने नहीं देंगे, यह आशय है. अशक्त होनेकी स्थितिमें, भगवत्सेवा आदि संभव न भी हो तब भी, अपने निवेदनको कभी भुलाना नहीं नहीं चाहिये तो शब्दका प्रयोग इस अभिप्रायवश किया है. और कहनेका आशय दोनोंको जोड़ कर बात पूरी समझनी चाहिये. सर्वथा कहनेसे यह आवश्यक है यह जताया. अथवा जो सर्वथा भगवान्के प्रति निवेदित होनेके सम्बन्धको निभा पाते हों उन भगवत्परायणोंके साथ आत्मनिवेदनका अनुसन्धान बनाये रखनेको स्मरण करना चाहिये. इसके कारण संगदोषसे भी बचा जा सकता है. अर्थात् जिनके भीतर आत्मनिवेदनका भाव न हो उनके सामने अपने आत्मनिवेदनका भाव प्रकट नहीं करना चाहिये. कहीं-कहीं 'सर्वथा' पाठ न हो कर सर्वदा ऐसा भी पाठ मिलता है सो तब उसका अभिप्राय निरन्तर कालिक व्यवधानरहित ऐसे समझना चाहिये. अन्यथा आत्मनिवेदनके भावको खोते ही आसुरभाव उभर सकता है. कभी अलौकिक अर्थ या लौकिक किसी अर्थकी सिद्धिके लिये भगवान्की प्रार्थना करनी कि नहीं? उत्तर है : 'नहीं'.

सर्वेश्वर इति. यहां 'सर्व'शब्द वे सब जो निवेदितात्मा हों उनका वाचक है, जैसे, "सभी ब्राह्मणों भोजन करने बैठाओ" वाक्यमें वे सभी ब्राह्मण जो निमन्त्रित हों यही अर्थ लिया जाता है, नकि अनिमन्त्रित सभी ब्राह्मण. यही बात 'सर्वात्मा'पदके बारेमें भी विचारी जा सकती है. एतावता भगवान्के सेवक जैसे-जैसे प्रपन्न होते जाते हैं वैसे-वैसे भगवान् भी उन अपनाये हुओंके बारेमें अपने स्वामी होनेकी आत्मीयता प्रकट करते जाते हैं. अतः उनके हितसंपादनके बारेमें प्रार्थनाकी अपेक्षा नहीं रखते हैं. अथवा भगवान् तो कालादिके भी नियन्ता होनेके कारण कालादिके प्रतिबन्ध निरस्त हो जायेंगे. अतः सर्वेश्वरका अर्थ कालके ईश्वर भी हो सकता है. अतः प्रार्थना करनेपर भी स्वयं विचारित ही करेंगे सो प्रार्थनाका कोई प्रयोजन रह नहीं जाता है, यह निजेच्छा कह कर जताया गया. अथवा निज=स्वीय जनके रूपमें जिन्हें भगवान्ने अपनाया हो ऐसे सेवक. उनकी प्रबल इच्छा पूरी करने स्वयमेव अपेक्षित करेंगे ही अतः प्रार्थनाकी अपेक्षा नहीं रह जाती है. इच्छा, परन्तु, अविकृत होनी चाहिये यह जताने अव्यय ('निजेच्छातः'में 'तः') का प्रयोग किया गया है ॥२॥

अवतरणिका :

* ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते ! * तत्र आहुः :

कारिका :

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकम् इति स्थितिः ॥

अतो अन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥३॥

भावानुवाद :

आत्मनिवेदनके कारण सभीका भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ता है प्रत्येकका नहीं ऐसी स्थिति है ॥

अतः सभीमेंसे किसी एकका भगवान्में विनियोग न हो

कर अन्यत्र कहीं होता हो तब भी स्वयं तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये॥३॥

प्रकाश :

सर्वेषाम् इति, स्वात्मना सह यावन्तो निवेदिताः तैः सहैव स्वस्य अङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो नतु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्र उपयोगे स्वस्य का चिन्ता! न कापि इति अर्थः. इयं निवेदने अङ्गीकारमर्यादा इति आहुः स्थितिः इति. कस्यचिद् विशेषतो अङ्गीकारः चेत् सा पुष्टिः इति भावः. अथवा पुत्रादीनाम् अन्यविनियोगदर्शनेऽपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामपि अङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवाद् इति अर्थः. किञ्च 'स्वस्य' इति पदम् आवृत्तम् 'अपि' शब्देन सम्बध्यते॥३॥

अनुवाद :

शंका उठती है *भगवान्को समर्पित किये गये देहादिका स्त्री पुत्र आदिमें विनियोग जो करना ही पड़ता है उसके कारण स्वधर्मकी हानिकी चिन्ता सताती हो तो! * समाधान देते हैं :

सभीका स्वयंके साथ जिनका भी निवेदन निवेदनकर्तानि किया हो ऐसे सभीका स्वयंके साथ ही भगवान् अंगीकार करते हैं नकि प्रधानतया निवेदनकर्ताका ही अतः सभीका संबन्ध भगवान्के साथ एक जैसा होता है निवेदनकर्ताकी प्रधानताके साथ नहीं. अतः उनके अन्यत्र कहीं उपयोगमें आनेपर भी स्वयंको चिन्ता करनेका कोई कारण नहीं! यह तो निवेदनमें भगवान्द्वारा अपनाये जानेकी मर्यादा है, ऐसा जतानेको स्थिति कहा. कोई विशेषतः अपनाया गया लगता हो तो उसे पुष्टि समझनी चाहिये. अथवा आत्मनिवेदीके पुत्रादिका भी भगवान्के अलावा और कहीं विनियोग हो रहा हो तो भी स्वयं आत्मनिवेदीकेलिये चिन्ताका कोई कारण नहीं. क्योंकि ऐसोंको भी भगवान्ने अपनाया तो है ही अतः भगवान्की इच्छा होगी तब वे भी कृतार्थ क्यों नहीं हो पायेंगे? यहां 'स्वयं' पद आवृत्ति द्वारा 'भी'के साथ जोड़ा

जा सकता है॥३॥

अवतरणिका :

यथा पुत्रादीनां तथा स्वस्यापि सो अन्यविनियोगः चेत् तदापि चिन्ता न कार्या इति आहुः :

कारिका :

अज्ञानाद् अथवा ज्ञानात् कृतम् आमात्मनिवेदनम्॥

यैः कृष्ण सा त्कृतं प्राणैस् तेषां का परिदेवना!॥४॥

भावानुवाद :

अज्ञानवश या ज्ञानपूर्वक जिन्होंने आत्मनिवेदन किया हो उसे ॥

ऐसे अपने-आपके प्राणोंको श्रीकृष्णके साथ सान लेनेवालोंको किस बातका परिताप होना चाहिये!॥४॥

प्रकाश :

अज्ञानाद् इति, हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिः चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैः चिन्ता न कार्या इति किमु वाच्यम्! इति अर्थः. केवलं प्रभवधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सा इति भावः. अतएव 'का' इति शब्दः उक्तः. पदसम्बन्धस्तु : अज्ञानाद् अथवा ज्ञानाद् यैः तत् कृतं तेषां सा न इति शेषः. कृष्णसात्कृतप्राणैः यैः तत् कृतं तेषां सा का? इति उक्तम्॥४॥

अनुवाद :

जैसे पुत्रादिका भगवान्में विनियोग हो रहा है नहीं इस बारेमें चिन्ता नहीं करनी चाहिये उसी तरह अपना भी विनियोग भगवान्में होता हो या न होता हो चिन्ता करनी आवश्यक नहीं है :

अज्ञानवश अर्थात् हीन या मध्यम अधिकारीको भी यदि आत्मनिवेदन

करनेके बाद चिन्ता करनी आवश्यक न हो तो तो अपने प्राणोंको श्रीकृष्णके साथ सान लेनेवालोंको किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये इस विषयमें कुछ कहनेकी आवश्यकता रह नहीं जाती है. अपने प्राणोंको केवल भगवान्‌के आधीन माननेवालोंको चिन्ता करने लायक कोई विषय रह नहीं जाता है. अतएव 'किस बातकी' कहा. श्लोकके प्रयुक्त पदोंका अन्वय : (जब) अज्ञानवश अथवा ज्ञानपूर्वक जिन्होंने आत्मनिवेदन किया हो उन्हें चिन्ता नहीं होनी चाहिये (तब) जिन्होंने अपने प्राण श्रीकृष्णके साथ सान लिये हों उन्हें किस बातकी चिन्ता करने जैसी रह जाती है? ॥४॥

अवतरणिका :

*ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथाच स्वयम् आत्मनिवेदने कृतेऽपि “प्रभुः अङ्गीकृतवान् न वा!” इति चिन्ता भवत्येव इत्यत्र आहुः :

कारिका :

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे॥
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥५॥

भावानुवाद :

इसी तरह श्रीपुरुषोत्तमने हमारा आत्मनिवेदन मान्य किया कि नहीं ऐसी चिन्ता भी छोड़ देनी चाहिये॥

उनकी सेवामें अपने विनियोगके बारेमें भी चिन्ता छोड़ देनी चाहिये क्योंकि श्रीहरि स्वयं समर्थ हैं॥५॥

प्रकाश :

तथा इति, पुरुषोत्तमो अङ्गीकृतवान् न वा? इति निवेदनविषयिणी या, सा त्याज्या, उक्तनिवेदनवद् इति अर्थः. पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां

स्वतो अन्यभजनं क्रियमाणाः भक्ताः तस्माद् निवार्य स्वयम् आत्मसात्कृताइति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का न उचिता इति ज्ञापनाय 'पुरुषोत्तम'पदम्. तत्रापि स्वरूपानन्ददानेन अनिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्र उपयोगसम्भवेनैव न शङ्कोदयः इति ज्ञापनाय 'श्री'पदम्. तथाच तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्या इति भावः. कदाचिद् लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशाद् अन्यविनियोगेऽपि तथा इति आहुः विनियोगेऽपि इति, प्रमादात् तथा सम्भवेपि प्रभुः न त्यक्ष्यति, यतः तत्स्वभाववशात् तथाभूतमपि उद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥५॥

अनुवाद :

*यहां एक शंका यह हो सकती है कि भगवान्‌के सख्य या आत्मनिवेदन तो भगवान्‌ अपनायें तभी संभव होंगे, ऐसी स्थितिमें स्वयं आत्मनिवेदन किया भी हो पर “भगवान्‌ने उसे माना कि नहीं!” ऐसी चिन्ता होती ही उसका क्या करना सो समझाते हैं :

इसी तरह पुरुषोत्तमने मेरा आत्मनिवेदन मान्य किया कि नहीं? ऐसी चिन्ता निवेदनके बारेमें जो होती है उसे छोड़ देनी चाहिये, उक्त निवेदनकी तरह ही. क्योंकि ब्रजमें प्रकट होनेपर भगवान्‌ पुरुषोत्तमने श्रीकृष्णने अपनी निरोधलीला अन्यका भजन करनेवालोंको वैसा करने रोक कर स्वयंके साथ एकमेक कर लिया था. ऐसी स्थितिमें यदि किसीने स्वयं अपनी ओरसे चल कर सर्वात्मना निवेदन किया हो तो भगवान्‌ मान्य करेंगे या नहीं ऐसी शंकाका अवसर कहाँ आ पायेगा, यह 'पुरुषोत्तम'पदके प्रयोगद्वारा जताया. तिसपर भी अपने स्वरूपानन्दके दानसे सतत जिन भक्तोंका पोषण भगवान्‌ने किया हो उनके अन्यत्र विनियोगकी तो संभावना ही नहीं रह जाती है यह 'श्री'पदका अभिप्राय है. अतः श्रीयुक्त पुरुषोत्तमने हमारा आत्मनिवेदन मान्य किया कि नहीं ऐसी चिन्ताका कोई अवसर नहीं आता. कभी लोकमें भयादि परिस्थितिमें उसे दूर करनेको जीव अपने अस्थिर स्वभावके वश अन्य किसी काममें लग भी गया हो तो भी चिन्ता तो निश्चित

ही नहीं करनी चाहिये यह विनियोगके बारेमें द्वारा प्रकट किया, प्रमादवश ऐसा हो जानेपर भी प्रभु हमारा त्याग नहीं करेंगे, क्योंकि अपने स्वभावके कारण ऐसोंका भी उद्धार करने प्रभु समर्थ हैं ही उनके साधनोंकी अपेक्षा रखे बिना ॥५॥

अवतरणिका :

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमपि आहुः :

कारिका :

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ॥
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताऽखिलाः ॥६॥

भावानुवाद :

लोकमें इसी तरह वेदमें भी श्रीहरि हमें स्वस्थ तो नहीं रहने देंगे ॥

क्योंकि वे स्वयं (लोकमें लौकिक पुरुषकी तरह नहीं) पुष्टिमार्गमें रह कर हमारे साथ जुड़े हैं अतः हम सभीको इसके गवाह बननेकी भावना रखनी चाहिये ॥६॥

प्रकाश :

लोके इति, कदाचित् प्रवाहवशाद् लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्नएव भवति, नतु तत्फलम् इति अर्थः. तत्र हेतुः पुष्टि... इति. तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यतः इति भावः. पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहते इति ज्ञेयम्. एवं सति किं कार्यम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥६॥

अनुवाद :

भगवान्द्वारा अपनाये जानेका एक दूसरा लक्षण भी दिखला रहे हैं :

लोक कभी प्रवाही प्रकारके अनुसार लौकिकमें नौकरी या धन्धा में, अथवा वैदिक आश्रमधर्म आदिमें हम रहना चाहते तो विघ्न ही सामने आते रहेंगे, नकि सफलता. इसमें हेतु है भगवान्का पुष्टिमार्गमें रह कर अतः लौकिक या वैदिक फलोंकी अपेक्षा रखे बिना सर्वकर्ता होनेके कारण स्वयं अपने बलसे सब कुछ भगवान् सम्पन्न कर सकते हैं. अतः पुष्टिमार्गको स्वीकार कर हम तक पहुंचे होनेके कारण भगवान् मर्यादाओं सहन न भी करते हों यह जान लेना चाहिये. तो करना क्या? इस शंकाका समाधान करते हैं गवाह बन कर सब निहारना चाहिये ॥६॥

कारिका :

सेवाकृतिः गुरोः आज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ॥
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥७॥

भावानुवाद :

गुरुकी आज्ञाके अनुसार सेवा निभानी चाहिये पर श्रीहरिकी इच्छाके अनुसार उसका बाध भी हो सकता है ॥

अतः अपना चित्त सेवामें तत्पर रखते हुवे सुखपूर्वक रहना आवश्यक है ॥७॥

प्रकाश :

सेवाकृतिः इति, गुर्वाज्ञायाः अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वम् अपेक्षिता. एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेद् गुर्वाज्ञाविरुद्धा भवेत् तदा तथा कार्यम् इति आशयेन आहुः बाधनं वा हरीच्छया विकल्पेन अबाधनम् इति अर्थः. एवं सति गुर्वाज्ञायाः अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतो अतः तथैव स्थेयम् इति आहुः अतः इति. एवं सति पर्यवसितं सुखमेव इति आशयेन सुखम् इति उक्तम् ॥७॥

अनुवाद

सेवा गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन किये बिना जैसे निभे ऐसे निभानी,

इस तरह भगवत्सेवा निभाना पहली आवश्यकता है। ऐसे निभाते हुवे कभी कभी विशेष भगवदाज्ञा गुरुकी आज्ञासे विरुद्ध भी हो तो भगवदाज्ञा ही निभानी चाहिये यह समझाना चाहते हैं श्रीहरिकी इच्छाके अनुसार उसका बाध भी हो सकता है अर्थात् यहां गुरु-आज्ञा और भगवदिच्छा के पालन या उल्लंघन में विकल्प स्वीकारा गया है। इसका आशय यही है कि गुरुकी आज्ञाके पालन या उल्लंघन में प्रमुख तो सेवा ही नकि अन्य कुछ। अतः समझ कर पुष्टिमार्गपर चलना चाहिये यह अतः कह कर जताया, ऐसा करनेपर सुख ही होगा ऐसे आशयसे सुख कहा ॥७॥

अवतरणिका :

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिम् आहुः :

कारिका :

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर् यद्-यत् करिष्यति॥
तथैव तस्य लीला इति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्॥८॥

भावानुवाद :

श्रीहरि चित्तमें उद्वेग प्रकट कर भी क्या या जो कुछ करना चाहते हों॥
उसे उनकी लीला मान कर चिन्ता तो शीघ्र ही छोड़ देनी चाहिये॥८॥

प्रकाश :

चित्तोद्वेगम् इति.

अनुवाद

कभी पुत्रादिके वियोग होनेकी आशंकाके वश होनेवाले दुःखोंके कारण चिन्ता हो तो क्या करना ? सो समझाते हैं :
चित्तमें उद्वेग

अवतरणिका :

* ननु इदम् अखिलम् अशक्यमिव भाति. तथाहि श्रवणम् आरभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चाद् निवेदनवार्ता. तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि. अतः तत्कृतचिन्ता-ऽन्यवियोगचिन्तादिसमाहितः निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहुः :

कारिका :

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं “श्रीकृष्णः शरणं मम” ॥
वदद्भिर् एवं सततं स्थेयम् इत्येव मे मतिः ॥९॥

भावानुवाद :

अतः सर्वात्मना नित्य ही “श्रीकृष्णः शरणं मम” ॥

ऐसे सतत बोलते रहना चाहिये मेरी तो मति ऐसी ही है ॥९॥

प्रकाश :

तस्माद् इति, यस्माद् उक्तरीत्या स्वतः सर्वम् अशक्यम्, अतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्. भक्तिमार्गीयान् सर्वान् अंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति. नित्यम् इति नैरन्तर्यम् उच्यते. अन्यथा कालेन आसुरधर्मप्रवेशः स्यात्. अन्तःकरणे तथाभावे अतथाभावे वा तथा वदनम् आवश्यकम् इति ज्ञापयितुं सततम् एवं वदद्भिः इति उक्तम्. एवं सति लोकशिक्षापि आनुषङ्गिकी सिध्यति. एवम् उक्तप्रकारेण सेवापरतया स्थेयम् इति अर्थो वा. ननु इदमपि न स्वशक्यम् इति आशङ्क्य “यमेव एष वृणुते” (कठोप.२।२२) इति श्रुतेः मम मतिः इत्येव एवंप्रकारिकैव इति अर्थः.

अनुवाद :

* यहां एक शंका होती है कि यह तो सारी बातें अशक्यप्राय

लगती हैं. क्योंकि श्रवणसे शुरु कर सख्य पर्यन्त पहुंचनेपर बादमें आत्मनिवेदनकी बात चलायी जा सकती हैं. इनमें प्रत्येक प्राप्त करनी कठिन हो तो आत्मनिवेदनकी दिशा भी सूझनी मुश्किल होगी. ऐसी स्थितिमें आत्मनिवेदनके कारण होती चिन्ताकी बात उठ ही नहीं पायेगी तो आत्मनिवेदीके अन्यविनियोग या अविनियोग के कारण होती चिन्ताकी बात छेड़ना और उसका समाधान खोजना क्या अप्रासंगिक नहीं? अतः साधन और फल सब कुछ एकवत् कह कर समझाते हैं :

अतः क्योंकि जैसा कि कहा गया तदनुसार स्वतः कुछ कर पाना अशक्य हो तब सर्वात्मना भगवान्की शरणागति द्वारा भगवान् सब कुछ सिद्ध कर देंगे यह अभिप्राय है. भक्तिमार्गीयोंकी सारी बातोंका विचार कर उनकी अशक्तिके कारण होते प्रतिबन्धका भी विचार करनेपर सर्वात्मना भगवान्की शरणागति स्वीकारनी सहज सुकर हो जाती है. नित्य यानि निरन्तर. अन्यथा कालके कारण आसुरावेशवाले धर्मके भीतर प्रवेश संभावित हो जाता है. अपने अन्तःकरणमें ऐसा भाव हो या न हो अष्टाक्षर बोलते रहना तो आवश्यक ही है यह जताने ऐसे सतत बोलते रहनेकी बात कही. इससे लोकमें आदर्श भी प्रकटतया सिद्ध हो जाता है यह आनुषंगिक सिद्धि है. मूलतः इस तरह भगवान्की सेवामें तत्पर रहनेकी बात बात समझायी गयी है. यदि यह भी स्वयंसे शक्य न हो तो ऐसी आशंकाके समाधानतया “जिसका वह वरण करता वह उसे पा सकता है” (कठोप.२।२२) इस श्रुतिके आधारपर मेरा अभिप्राय तो यही है यह समझाया मति ऐसे प्रकारकी ही.

प्रकाशोपसंहार :

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढ्यार्थम् इदम् उच्यते॥
अन्धस्य सूर्यइव तद्विमुखस्य अत्र न अर्थिता॥२॥
भक्तिमार्गसुधासिन्धोः विचारमथनैः स्वयम्॥

स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः॥२॥
मया उज्ज्वलीकृतानि इत्थं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम्॥
भजन्तु भक्ता येन असौ न विमुञ्चति कर्हिचित्॥३॥

अनुवाद :

भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होना चाहते अधिकारीमें दृढ़ता प्रकटे यह कहा॥
सूर्यका प्रकाश अन्धके लिये नहीं होता जैसे वैसे ही भगवद्विमुखके लिये यहां कुछ भी कहा जाना अभिप्रेत नहीं है॥२॥
भक्तिमार्गकी सुधाके सिन्धुके वैचारिक मन्थनके पाण्डित्यद्वारा श्रीमदाचार्यचरणने स्वयं॥
जो रत्न प्रकट किये उन्हें स्फुट करके॥२॥
मैंने चमकाये हैं अपने हृदयमें ब्रजाधिपको पधरा कर॥
ताकि भक्त उनका ऐसी रीतिसे भजन करें कि वह हमें कदापि छोड़ न दें॥३॥

इति श्रीविट्ठलेशदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः

इति श्रीविट्ठलेशदीक्षितविरचित नवरत्नप्रकाश समाप्त



॥ सिद्धान्तमुक्तावली ॥

ग्रन्थपरिचय

कहा जाता है कि सिद्धान्तमुक्तावली श्रीमहाप्रभुने अच्युतदास सनोढियाके लिए लिखी थी. एक किंवदन्तीके अनुसार यह रचना वि.सं. १५५५ में जतिपुरा में की गई.

बालबोधवाले नारायणदास और इन अच्युतदास के चरित्रमें कई बातोंमें समानता भी है और उल्लेखनीय अन्तर भी. नारायणदासको श्रीमहाप्रभुने स्वरूपसेवा पधरानेसे इन्कार कर दिया था, जबकि अच्युतदासको श्रीगोवर्धनधरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे. नारायणदासके व्यावृत्तिमय जीवनके कारण उनसे स्वरूपसेवाका निर्वाह सम्भव न था, जबकि अच्युतदासके चरित्रके अवलोकनसे उनकी रुझान सर्वथा अव्यावृत्त जीवन-यापनकी प्रतीत होती है. अतः तनुवित्तजा-सेवा अथवा गृहसेवा के प्रकारके निर्वाहका तो प्रश्न ही नहीं उठता. सो श्रीगोवर्धनधरकी केवल तनुजासेवा करनेके बजाय इन्होंने सीधे ही श्रीमहाप्रभुसे मानसी सेवाका वरदान ही मांग लिया! नारायणदासको जैसे स्वरूपसेवाके अनुकल्प श्रीहस्ताक्षरकी सेवाद्वारा उत्कट भावका दान मिला, वैसे ही अच्युतदासको प्रथम तनुवित्तजा-सेवा और तब मानसी सेवा के सिद्धान्तसम्मत क्रमके बिना सीधे ही फलरूपा मानसी सेवाका दान श्रीमहाप्रभुने कर दिया!

सिद्धान्तमुक्तावली तथा सम्बद्ध वार्ता के अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि जैसे विराटरूपके साक्षात्कारके समय श्रीकृष्ण और अर्जुन में कुछ एक मीठा विवाद हो गया था, वैसा ही विवाद श्रीमहाप्रभु और अच्युतदास में भी हुआ होना चाहिए. श्रीकृष्ण अपने विराटरूपकी महत्ता और देवदुर्लभता समझा रहे थे पर अर्जुनका कहना था कि जो भी हो उसे इस स्वरूपके नहीं किन्तु सौम्य मानुष स्वरूपके

ही दर्शन सुहाते हैं. वैसे ही अच्युतदासको भी नामनिवेदन करानेके बाद श्रीमहाप्रभु श्रीगोवर्धनधरकी सेवामें नियुक्त करना चाहते थे-‘तुम गोवर्धनधरकी सेवा करो!’ तब अच्युतदास श्रीआचार्यजीको दंडवत करि विनती किये-“महाराज! मोपर एसी कृपा करो जो एकान्तमें बैठिके मानसी सेवामें मन लागे?” तब श्रीआचार्यजी अपनो चरणामृत दिये. सो अच्युतदास पान करि, हाथ नेत्रनसों लगाय हृदयसों लगायो. तब अच्युतदासके नेत्र अलौकिक हो गये. लीलाको दरसन करन लागे...”

वैसे तो “प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेवच” (वि.धै.आ.२) का सिद्धान्त सभी शरणागत जीवों पर लागू होता ही है. फिरभी स्नेहके आवेशमें भक्त कभी-कभी कुछ न कुछ मांग ही लेते हैं. भगवान्को भी वह कृपाके आवेशमें देना ही पड़ता है. क्योंकि “अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः” (सि.मु.१८) में निरूपित अनुग्रहशीलता अथवा भक्तपरवशता का रहस्य कुछ भक्तोंके हाथ लग जाता है! जो इस तरह प्रभुके स्वभावका लाभ ले लेते हैं, उन अग्रगण्य भक्तोंमें अच्युतदास भी एक है.

“तब श्रीआचार्यजीने सिद्धान्तमुक्तावली करि पढायी. ता करि मानसीमें मन भये सो गोविन्दकुण्डके पास गुफामें रहते. नेत्र प्रेमरससों भरे रहते. सो श्रीगुसांईजी नित्य दरसन देवे पधारते. ऊपर यह भाव मर्यादा राखन अर्थ परन्तु श्रीगुसांईजी दरसन करवे आवते. सो याते श्रीगुसांईजीको श्रीआचार्यजीको अनुभव होतो. अच्युतदासके नेत्रनमें श्रीमहाप्रभुजी झलकते” (भावप्रकाश). वस्तुतः पुष्टिमार्गमें अनुग्रह ही नियामक है, भक्तका भी और भगवान्का भी, भक्तिकी साधनामेंभी और भक्तिके फलदानमें भी!

अच्युतदासने छीन-झपटकर अपवादरूपसे जो अधिकार प्राप्त कर

लिया था उसका कोई गलत अर्थ न लगा ले, अतएव श्रीमहाप्रभु अपनी सैद्धान्तिक स्थिति इस ग्रन्थमें स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं।

कृष्णसेवा हम पुष्टिमार्गीय जीवोंका सनातन कर्तव्य है। जब यह कृष्णसेवा मानसीरूपमें फलित होती है तो वह सेवाकी उत्कृष्टतम अवस्था है। क्योंकि चित्तका भगवान् श्रीकृष्णके साथ तन्मय हो जाना ही सेवा है। चित्तको श्रीकृष्णके साथ तन्मय करनेके लिए स्वयम् अपने तन तथा धन को कृष्णसेवामें लगाना चाहिए। रही बात सांसारिक दुःखोंके दूर होनेकी या अलौकिक ब्रह्मानन्दके प्राप्ति की तो वह तो इस कृष्णसेवामें मिलते भजनानन्दका एक आनुषंगिक लाभ है ही। क्योंकि ब्रह्मानन्दमें अनुभूत होता अक्षरब्रह्म गणितानन्द है। जबकि भजनानन्द तो परब्रह्म अगणित-सच्चिदानन्द श्रीकृष्णकी सेवाद्वारा ही मिल सकता है।

यह अक्षरब्रह्म समग्र जागतिक रूपोंका उपादान होनेके कारण सर्वरूप भी है और सर्वविलक्षण भी। जगतके कारणके स्वरूपके बारेमें अनेक प्रकारके विवाद दिखलाई देते हैं। उदाहरणतया विवर्तवादी लोग इस जगतको मायिक मानते हैं। प्रकृतिपरिणामवादी इसे प्रकृतिके सत्त्व-रज-तमोगुणोंका परिणाम मानते हैं। आरम्भवादी सूक्ष्म परमाणुओंसे निर्मित मानते हैं। मीमांसकोंके अनुसार जगत जैसा आज दिखलाई देता है वैसा ही सर्वदा था और रहेगा। अतः इसके कर्ताके रूपमें परमात्माको वे मान्य नहीं करते। श्रौत मतके अनुसार, किन्तु, माया प्रकृति परमाणु अदृष्टकर्म वासना या स्वभाव आदि सभी रूपोंमें अक्षरब्रह्म ही जगतका एकमात्र कारण बनता है। अक्षरब्रह्म अतएव सर्वरूप होनेपर भी सर्वविलक्षण है।

जगत और अक्षरब्रह्म के परस्पर स्वरूपोंको आधिभौतिक गंगाजल, जो ग्रीष्म या वर्षा में घटता या बढ़ता है, और आध्यात्मिक तीर्थरूपा गंगा, जिसका ग्रीष्म या वर्षा से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, के

समान समझना चाहिए। आधिभौतिक रूपमें गंगा केवल एक नदी है पर आध्यात्मिक रूपमें मर्यादामार्गीय विधिके अनुसार तीर्थरूपा गंगाके तटपर तीर्थवास करनेवालेको मनोवांछित फल देनेवाली मानी गयी है। इसी तरह जगतके सभी नाम-रूप अक्षरब्रह्मके आधिभौतिकरूप हैं पर इनसे विलक्षण भी अक्षरब्रह्मका एक आध्यात्मिक रूप हैं, जो मर्यादामार्गीय ज्ञानियोंके लिए उपास्य तथा मोक्षप्रापक रूप है।

गंगाके इन दो आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रूपोंके अलावा एक तीसरा आधिदैविक रूप भी कभी-कभी भक्तोंको उनकी भक्तिके आवेशमें अनुभूत होता है - एक मूर्तिमती देवीके रूपमें। इस आधिदैविक रूपका प्रत्यक्ष सभीको नहीं होता। यह तो उन्हींको दिखलाई देता है जिन्हें गंगाके आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सभी रूपोंमें तीव्र भक्तिके कारण अभेदबुद्धि घटित हो जाती है। यह घटीत होनेपर आधिभौतिकरूपमें भी सर्वत्र आधिदैविक रूपका सा व्यवहार सम्भव हो जाता है।

गंगाके आधिभौतिक रूप जलकी तरह यह सारा जगत है। गंगाके आध्यात्मिक तीर्थरूपकी तरह अक्षरब्रह्मको समझना चाहिए। गंगाके आधिदैविक रूप मूर्तिमती देवीकी तरह श्रीकृष्णको समझना चाहिए।

जगत जैसे त्रिविध सत्त्व-रजस्-तमोगुणात्मक है, वैसे उसके नियामक देवता भी त्रिविध विष्णु-ब्रह्मा-शिव माने जाते हैं। इसी तरह अक्षरब्रह्म क्योंकि एकविध है अतः उसके नियामक-अधिदेव भी परब्रह्म श्रीहरि एक ही हैं। अतः अक्षरब्रह्ममें अवस्थित ब्रह्मादि सकल देवताओंके नियामक भी श्रीहरि ही हैं। श्रीहरि द्वारा अधिकृत होनेके कारण ही ये देवता भी मनोवांछित फलदान करनेमें समर्थ बनते हैं। जहांतक पुष्टिभक्तोंका प्रश्न है तो उनके तो सभी मनोवांछित ऐहिक या पारलौकिक फल परमानन्दरूप श्रीकृष्णसे ही निश्चिततया परिपूर्ण हो जाते हैं।

अतः ब्रह्मवादको अच्छी तरह समझकर केवल कृष्णमें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए.

ब्रह्मवादके अनुसार सभी जीवात्मा अक्षरब्रह्मके अंश है अतएव ब्रह्मात्मक हैं. पर अविद्याजन्य अहन्ता-ममताबुद्धिके कारण स्वयम्की ब्रह्मात्मकताका हमें बोध नहीं हो पाता है. जैसे आकाशको एक चलनीमें से देखा जाय तो चलनीके छिद्र आकाशके अनेक छिद्रोंकी तरह प्रतीत होंगे. ऐसे ही अहन्ता-ममताकी चलनीमें से अनुभूत होनेके कारण अखण्ड अक्षरचैतन्य भी हमें खण्डशः व्यक्तिचेतनाके रूपमें भिन्न-भिन्न अनुभूत होता है.

व्यक्तिचेतनाकी ब्रह्मात्मकताका बोध केवल अहन्ता-ममताकी उपाधिके दूर होने मात्रसे नहीं हो जाता, अपितु परब्रह्मके धामरूप व्यापक अद्वैत अखण्ड अक्षरब्रह्मका ज्ञान होनेपर ही वह सम्भव है. अपनी अक्षरब्रह्मात्मकताके बोध होनेपर अक्षरब्रह्ममें विराजमान परब्रह्म पुरुषोत्तम कृष्णके दर्शन सम्भव हो जाते हैं. जैसे गंगातीरपर तीर्थवास करनेवाला भक्त अपनी तीव्र भक्तिके कारण आधिदैविक स्वरूप मूर्तिमती गंगाके दर्शन पा लेता है, वैसे ही आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें निवास करनेवाला भक्त उसके आधिदैविक स्वरूप श्रीकृष्णके दर्शन पा लेता है.

माहात्म्यज्ञानके बिना सांसारिक वृत्तिसे जो कृष्णभजनमें प्रवृत्त होते हैं उनकी भगवान्के साथ दूरी मिटती नहीं है. जैसे कोई गंगाका भक्त गंगातटसे दूर रहनेके कारण गंगाजलके स्नान-आचमन-अर्चनसे वंचित रहनेके कारण दुःखी रहता है. वैसे ही माहात्म्यज्ञान (और/अथवा सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह) के अभावमें कृष्णभजनमें प्रवृत्त होनेपर कुछ न कुछ क्लेश तो होता है. पर कृष्णभजन कभी व्यर्थ नहीं जाता. अतः जन्मान्तरमें भी कभी न कभी माहात्म्यज्ञान और/अथवा सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह प्रकट होगा और जीवात्मा तथा परमात्मा कृष्ण के

बीचकी दूरी कम होगी ही यह निश्चित है.

अतः जगतकी सारी झंझटोंको छोड़कर पुष्टिके प्रशस्त पथपर चलते हुए पुष्टिजीवको श्रीकृष्णका ही निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए. श्रीकृष्णने अपने आधिदैविक रसात्मक आनन्दमय स्वरूपसे सभी ब्रजभक्तोंमें परमानन्दका सागर प्रकट किया है और अपने उस आत्मीय आनन्दके सागरमें श्रीकृष्ण सनातन लीलाविहार करते हैं. ऐसे ब्रजभक्तोंमें लीलाविहार करनेवाले श्रीकृष्णके स्वरूपका ही हमें सर्वदा चिन्तन करना चाहिए.

पुष्टिप्रवाहमर्यादा ग्रन्थमें पुष्टिजीवोंके दो अवान्तर भेद शुद्धपुष्टि मिश्रपुष्टिके दिखलाये गये हैं. तदनुसार मिश्रपुष्टिवाले जीवोंमें प्रवाही जीव कभी-कभी किसी लौकिक प्रयोजनके वशीभूत होकर भी कृष्णभजनमें प्रवृत्त हो जाते हैं. ऐसे प्रवाहपुष्टिवाले जीवोंके लिए कृष्णभजन सर्वथा क्लिष्ट हो जाता है. फिर भी जो सारे क्लेशोंको झेलते हुए कृष्णभजनमें लगे ही रहते हैं-उसे अधबीचमें छोड़ नहीं देते - उनके सारे लौकिक आवेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं.

स्वयम् अपने आत्मस्वरूपके तथा अपने भजनीय परमात्माके भी समुचित शास्त्रीय ज्ञानके बिना भजनमें प्रवृत्त हो जानेवाले भक्त पुष्टिजीव भी हो सकते हैं और मर्यादाजीव भी. कभी-कभी मर्यादामिश्रित पुष्टिके जीवको भी 'मर्यादाभक्त' कहा जाता है. वैसे सामान्यतः 'मर्यादाभक्त'का अर्थ केवल मर्यादामार्गीय भक्तिमान् जीव ही होता है.

मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्त प्रारम्भिक अवस्थामें भक्तिरहित शास्त्रीय ज्ञानवान् भी हो सकता है तथा शास्त्रीय माहात्म्यज्ञानके अभावमें भी भक्तिमान् हो सकता है.

ज्ञानरहित मर्यादापुष्टिभक्तको अपने चित्तको भगवान्में लगाये रखनेके

लिए भगवान्की पूजा-उत्सवादिकी प्रक्रियामें तत्पर रहना चाहिये. भक्तिरहित ज्ञानवान् मर्यादामिश्रित पुष्टिभक्तको दास्यभावप्रदायिनी गंगाके तटपर स्नेहोत्पत्त्यर्थ श्रीभागवतके अनुशीलनमें तत्पर होना चाहिए. इन दोनों प्रकारके मिश्रपुष्टिवाले भक्तोंको जब भगवान्के विशेष अनुग्रहका प्रकाश मिलता है तब वे पुष्टिमार्गको खोज पाते हैं तथा पूर्वोक्त तनुवित्तजा सेवाके क्रमसे अन्तमें उन्हें मानसी सेवा फलित हो जाती है.

जो केवल मर्यादामार्गीय जीव होते हैं वे भी भक्तिरहित ज्ञानवान् अथवा ज्ञानरहित भक्तिमान् हो सकते हैं इन दोनों प्रकारके जीवोंको सायुज्य मिलता है. पर अन्तर यह है कि भक्तिरहित ज्ञानवान् जीव ज्ञानमार्गीय प्रक्रियासे आध्यात्मिक अक्षरब्रह्ममें सायुज्य-लय प्राप्त करता है, जबकि मर्यादाभक्त दास्यभावप्रदायिनी गंगाके प्रसादसे आधिदैविक स्वरूपमें मर्यादाभक्तिमार्गीय सायुज्य प्राप्त करता है.

मर्यादामार्गीय साधककी साधनामें देश-काल आदिके नियम हैं, परन्तु पुष्टिभक्ति तो देशकालके बन्धनमें नहीं है. पुष्टिमार्गमें तो भगवान् का अनुग्रह ही केवल एकमात्र नियम या बन्धन है. अतः जिस देशमें या जिस कालमें भगवान्का अनुग्रह मिल जाय सर्वत्र एवम् सर्वदा पुष्टिभक्ति सम्भव है.

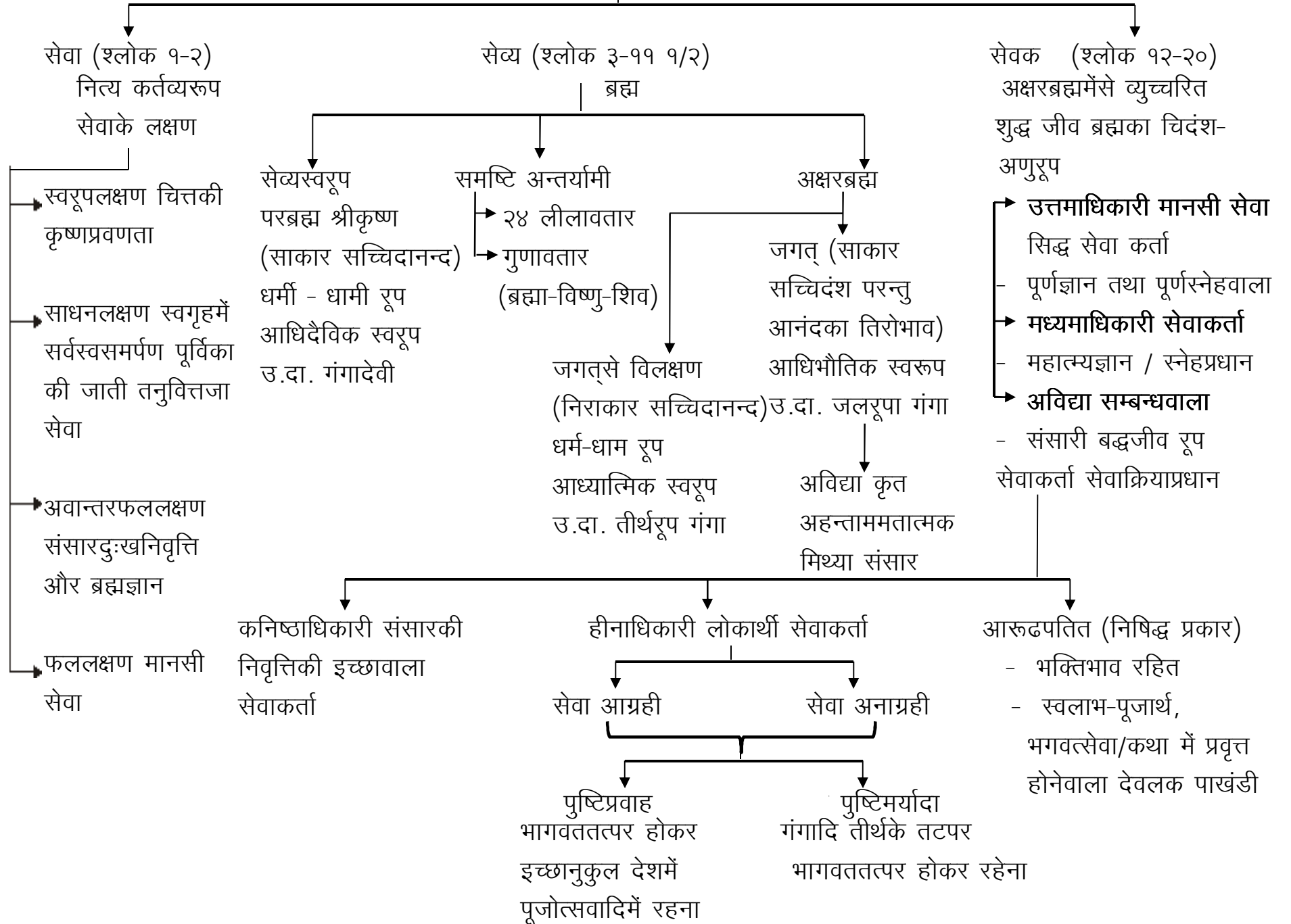
हर सूरतमें यों अक्षरब्रह्ममें सायुज्यका दान करनेवाले ज्ञानमार्गकी तुलनामें भक्तिमार्गका उत्कर्ष दिखलाई देता है. अतः भक्तिके बिना सब कुछ व्यर्थप्राय है. गंगातटपर तीर्थवास करनेवाला भी आधिदैविक गंगाके बारेमें यदि भक्तिरहित होता है तो कभी न कभी गंगाके आध्यात्मिक माहात्म्यको भूल कर अथवा उसे केवल आधिभौतिक जल ही समझ कर अपने दुष्टकर्मोंके कारण अन्तमें उसके आध्यात्मिक लाभसे भी वंचित रह जाता है. इसी तरह आधिदैविक कृष्णके स्वरूपमें सर्वथा भक्तिके अभावमें, आध्यात्मिक स्वरूप अक्षरब्रह्ममें ज्ञानबलसे

निवास करनेवाला विमुक्तिमानी साधक अरविन्दाक्ष श्रीकृष्णमें भावशून्य होनेके कारण अक्षरमे सायुज्यके लाभसे भी वंचित होकर पुनः भवप्रवाहमें अधःपतित हो जाता है.

यह श्रीभागवतशास्त्रका गुप्त रहस्य श्रीमहाप्रभुने न केवल अच्युतदास के लिए प्रकट किया है, अपितु सभी पुष्टिजीवोंको - श्रीमहाप्रभुके स्वकीयोंको उनके कर्तव्यके उपदेशके रूपमें दिखला दिया है. इसे अच्छी तरहसे एकबार समझ लेनेपर सभी पुष्टिजीव अपने कर्तव्य-सम्बन्धी संशयोंसे मुक्त हो सकते हैं.



सिद्धान्तमुक्तावली अन्तर्गत आते विषय



॥ श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितविवृतिसमेता ॥

सिद्धान्तमुक्तावली

(श्रीकृष्णसेवोपदेशपरा)

॥ गो.श्रीविठ्ठलेश्वरविरचित विवृतिके साथ ॥

सिद्धान्तमुक्तावली

कारिका :

नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ॥

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ॥१॥

भावानुवाद :

(मंगलाचरणरूप विषयोपक्रम)

श्रीहरिको नमन करके अपने सिद्धान्तके विनिश्चित रूपके बारेमें निरूपण करूंगा कि कृष्णसेवा सदा करनी चाहिये और वह जब मानसी होने लगे तो परा सेवा मानी जाती है ॥१॥

विवृतिमंगलाचरण :

प्रणम्य पितृपादाब्जपरागम् अनुरागतः ॥

कृपया विशदीकुर्मः तद्वाङ्मुक्ताफलावलीम् ॥१॥

अनुवाद :

अपने पिताके चरणकमलमें अनुरागके साथ प्रणाम करके ॥

उनकी वाङ्मुक्ताफलावलीकी विशदव्याख्या करता हूँ ॥१॥

विवृति :

स्वसिद्धान्त... इति, अग्रे वक्ष्यमाणैः बहुभिः मिथो विरुद्धैः सिद्धान्तैः शास्त्रार्थसन्देहे तन्निरासाय स्वसिद्धान्तरूपं शास्त्रार्थनिश्चयं वक्ष्यामि इति

अर्थः. तमेव आहुः कृष्णसेवा इति, फलात्मकनामोक्त्या स्वतः पुरुषार्थत्वेन सेवाकृतिः स्वसिद्धान्तो, नतु अन्यशेषत्वेन इति ज्ञाप्यते. सेवा हि सेवकधर्मः. तदुक्त्या जीवानाम् अशेषाणां सहजदासत्वं ज्ञापितम्. अतएव न कर्मणीव अत्र कालपरिच्छेदो अस्ति इति आहुः सदा इति. आवश्यकार्थक'ण्यत्'प्रत्यान्त-'कार्य'पदोक्तया तदकरणे प्रत्यवायी भवति इति भावो ज्ञाप्यते. साच फलरूपा साधनरूपा च आस्ते. तत्र मानसी सा परा फलरूपा इति अर्थो, यथा, ब्रजसीमन्तिनीनाम्. तदेव तत्प्राणनाथेन गीतं "ताः न अविदन् मयि अनुषंगबद्धधियः स्वम् आत्मानम्, अदः तथा इदम्" (भाग.पुरा.११।१२।-१२) इत्यादिना.

अनुवाद :

अपने सिद्धान्त... , आगे चल कर कहे जानेवाले बहुतसे विरोधाभासी सिद्धान्तोंके कारण शास्त्रार्थमें पैदा होते सन्देहोंके निरसनकेलिये अपने सिद्धान्त रूपी शास्त्रार्थका निश्चय कहूंगा. और वह है कृष्णसेवा, फलात्मक 'कृष्ण' नामके उल्लेखके कारण सेवाको अपने पुरुषार्थ होनेके रूपमें लेना ऐसा अपना सिद्धान्त है नकि किसी अन्य(धर्म अर्थ काम या मोक्ष) पुरुषार्थको सिद्ध करनेके साधनके रूपमें. जो सेवक होनेका भाव हो तो सेवा हमें अपना सहजधर्म लगेगी. सेवाकी बात उठायी गयी होनेके कारण सभी जीव भगवान्के सहज दास हैं यह सूचित किया. अतएव कर्मानुष्ठानमें जैसे किसी विशेष कालका नियम सेवा करनेके बारेमें नहीं यह जतानेको सदा कहा. 'कार्य' शब्दके अन्तमें 'ण्यत्' प्रत्यय जोड़ा गया है अतः सेवा न करनेवाला अपने कर्तव्यसे च्युत प्रत्यवायी हो जाता है. यह सेवा फलरूपा भी होती है और साधनरूपा भी. इनमें मानसी परा फलरूपा होती है, जैसे, ब्रजकी गोपिकाओंके मन निरन्तर कृष्णमें ही प्रवण रहते थे. यह उनके प्राणनाथ श्रीकृष्णने भी स्वीकारा है "मेरेमें अपनी बुद्धिके अनुषंगके कारण न तो उन्हें स्वयंका न इसका या उसका भान बच गया था" (भाग.पुरा.११।१२।१२) इत्यादि.

अवतरणिका :

एतदेव सेवास्वरूपम् इति आहुः :

कारिका :

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा ॥

ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर् ब्रह्मबोधनम् ॥२॥

भावानुवाद :

(भगवत्सेवाका स्वरूप)

चित्तका उसमें प्रवण हो जाना सेवा है. चित्तको प्रवण बनानेका उपाय अपने तन-वित्त दोनों एकसाथ पहले उसकी सेवामें लगाने चाहिये इस तरह सेवा निभा पानेपर सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति और ब्रह्मका बोध भी होने लगता है ॥२॥

विवृति :

चेतस्... इति. उक्तसेवासाधने इतरे इति आहुः तद् इति, वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका—एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्. एतेन भगवदर्थं निरुपधि-स्वसर्वस्व-निवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः. एतादृशस्य अवान्तरफलं भवति इति आहुः ततः इति. अहन्ता-ममतात्मकः संसारो नतु प्रपञ्चात्मकः, तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्, तन्निवृत्त्या अनिष्टनिवृत्तिः उक्ता. इष्टप्राप्तिम् आहुः अग्रे स्वात्मनि प्रपञ्चे च अक्षरब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानम्. भगवत्सेवायाम् अभिनिविष्टस्य यद्यपि अनभिलषिते ते, तथापि वस्तुस्वभावाद् भवतः इति भावः.

अनुवाद :

सेवाका भी यही स्वरूप होना चाहिये ऐसा समझाते हैं :

चित्त... . उक्त चित्तप्रवणतारूप सेवाके साधन दूसरे हैं. जैसे

कि सेवा अन्य किसीको वित्त दे कर भी करायी जा सकती है; या, किसीसे वित्त लेकर केवल अपने शरीरसे भी सेवा की जा सकती है. ऐसी दोनों ही तरहकी रीतसे सेवा करनेपर मानसी सेवा सिद्ध नहीं हो पाती. इसलिये 'तनुवित्तजा' ऐसे समस्त पदका प्रयोग किया. इससे यह फलित होता है कि किसी भी अन्य कामनाकी उपाधि रखे बिना अपना सर्वस्व भगवान्को, भगवान्के लिये, निवेदित करके उन्हीं भगवान्की सेवामें अपने तनको भी प्रेमपूर्वक तत्पर बनाये जानेपर चित्त भगवान्में प्रवण हो पाता है. तब परा मानसी सेवा सिद्ध हो पाती है. ऐसी अवस्थाके लाभ होनेपर कुछ अवान्तर फल भी प्रकट होते हैं ऐसा कहना चाहते हैं इस... सांसारिक अर्थात् अवस्तुनिष्ठ संसार अहन्ता-ममतात्मक होता है, वस्तुरूप प्रपञ्चात्मक नहीं, वस्तुरूप प्रपञ्चके ब्रह्मात्मक होनेके कारण. अहन्ता-ममताकी निवृत्ति होनेपर सारे अनिष्ट निवृत्त हो जाते हैं. अभीष्टकी प्राप्ति आगे चल कर दिखलायेंगे कि स्वयं अपने बारेमें और बाह्य प्रपञ्चके बारेमें उनके अक्षरब्रह्मात्मक होनेका भान होने लगता है. यद्यपि भगवत्सेवाका आग्रह रखनेवालेको तो इनकी अभिलाषा नहीं होती, फिरभी वस्तुस्वभावके कारण ऐसा भान होने लगता है.

अवतरणिका :

इदमेव परं ब्रह्म इति न ज्ञेयम् इति आहुः :

कारिका :

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ॥

द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम् ॥३॥

भावानुवाद :

(सेव्य भगवत्स्वरूप)

(धर्मिरूप) परब्रह्म तो कृष्ण ही हैं, अक्षरब्रह्म

या बृहत् तो सच्चिदानन्दक (धर्मरूप) होता है ऐसे इस अक्षरब्रह्मके भी दो रूप होते हैं : एक रूपमें वह सब कुछ बनता है और एक रूपमें वह सृष्टिके सारे नाम-रूप-कर्मोंसे विलक्षण भी रहता है॥३॥

विवृति :

परं ब्रह्मतु इति, यशोदोत्संगलालितो, नतु अन्यः इति ज्ञापनाय मूलनाम उक्तम्. अत्र भेदकं रूपम् आहुः सच्चिद्... इति. एतेहि भगवद्ब्रह्मात्मकाः, प्रकट-तत्-त्रितयात्मकम् अक्षरं ब्रह्म. अतएव प्रपञ्चः तदात्मकइति सच्चिदानन्दात्मकत्वं तस्मिन् उच्यते. एतावान् परं विशेषो : जडे सदंशः प्रकटः इतरौ आच्छन्नौः, जीवेतु आद्यौ प्रकटौ आनन्दांशः तिरोहितः, परमात्मनि त्रयं स्फुटम् - इति. 'क'प्रत्ययेन गणितानन्दत्वमेव नतु पुरुषोत्तमवत् पूर्णानन्दत्वम् इति ज्ञाप्यते. 'कृष्ण'शब्देनैव पुरुषोत्तमस्वरूपं निरूपितमिति अक्षरस्वरूपं निरूपयन्ति द्विरूपम् इति. तद् अक्षरं ब्रह्म. तदेव रूपद्वयं विशदयन्ति सर्वं स्याद् इति, प्रपञ्चरूपेण आविर्भूतम् एकम् इति अर्थः. एकं रूपं तस्मात् प्रपञ्चरूपाद् ^१एकरूपत्वेन ^२श्रुतिप्रतिपाद्यत्वेन ^३ज्ञान्युपास्यत्वेन ^४तन्मुक्तिस्थानत्वेन ^५पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वादिभिः विलक्षणम् इति अर्थः. नच विरुद्धधर्मैः भेदो अत्र शङ्कनीयः, उभयोः धर्मयोः एकत्र प्रमाणसिद्धत्वेन विरोधाभावात्. विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य ब्रह्मणि "तद् एजति तद् न एजति" (ईशा.उप.५) इत्यादिश्रुतिभिः निरूप्यमाणत्वाद्, लोकएव विरोधः शङ्कनीयो नतु अलौकिके ब्रह्मणि. इदं यथा तथा ब्रह्मसूत्रभाष्ये निरूपितमिति न अत्र प्रपञ्च्यते.

अनुवाद :

ब्रह्मके इन दो रूपोंमें से एक अक्षरब्रह्मरूपको परब्रह्मरूप नहीं मान लेना चाहिये ऐसा कहते हैं :

परब्रह्म तो माता यशोदाकी गोदमें लालित श्रीकृष्ण हैं, अन्य

कोई नहीं यह जतानेको मूल नाम कहा. इन दोनोंका रूपभेद समझानेको यहां भेदक रूप कहते हैं सच्चिदानन्दक भगवानके सत् चित् और आनन्द धर्मरूप भी होते हैं. अक्षरब्रह्ममें (ये धर्मरूप) सत् चित् और आनन्द, तीनों ही प्रकट रहते हैं. अतएव अक्षरात्मक होनेके कारण जगत् भी सच्चिदानन्दात्मक होता है. अन्तर केवल इतना ही है कि जड़ पदार्थोंमें सदंश तो प्रकट रहता है परन्तु चित् और आनन्द नाम-रूप-कर्मोंसे ढंक जाते हैं. जीवात्मामें सत् और चित् प्रकट रहते हैं पर आनन्दांश तिरोहित हो जाता है. परमात्मा=सर्वान्तर्यामी परमेश्वरमें ये तीनों ही स्फुट रहते हैं. 'सच्चिदानन्दक' पदमें 'क'प्रत्यय जोड़ा गया इससे परब्रह्म पुरुषोत्तमकी तुलनामें अक्षरब्रह्ममें आनन्द अपरिगणित नहीं होता. अतः उसे पूर्णानन्द नहीं माना जाता. यहां 'कृष्ण'शब्दके प्रयोगवश पुरुषोत्तमका स्वरूप तो निरूपित हो ही गया. अतः अब अक्षरब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करते हैं उसके दो रूप वह अक्षरब्रह्म, इन दोनों रूपोंको विशद करते हैं कि सब कुछ बनता है प्रपञ्चके रूपमें आविर्भूत होना एक प्रकार है. एक अन्य दूसरा रूप सृष्टिके सारे नाम-रूप-कर्मोंसे अर्थात् प्रपञ्चरूपसे ^१एकमेव होनेके रूपमें ^२श्रुतिद्वारा प्रतिपाद्य होनेके रूपमें ^३ज्ञानियोंके उपास्य होनेके रूपमें ^४उनके मोक्षके आश्रयस्थान होनेके रूपमें तथा ^५पुरुषोत्तमके धाम होने आदि रूपोंमें वह विलक्षण भी होता है. इन विरुद्ध धर्मोंके कारण इन दोनों प्रकारके रूपोंके कारण अक्षरब्रह्ममें भेदकी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रमाणके आधारपर दोनों ही धर्म उसी एकमेव अद्वितीय तत्त्वके ही सिद्ध होते हैं. अतः कोई विरोध उपस्थित नहीं होता. ब्रह्मका विरुद्धधर्माश्रय होना "वही सकम्प होता है और वही निष्कम्प भी होता है" (ईशा.उप.५) जैसी श्रुतिओंके आधारपर अभिलषित होनेके कारण. ये धर्म लोकमें चाहे परस्पर विरोधी भी लगते हों पर अलौकिक ब्रह्मके भीतर इनके बीच विरोध रह नहीं जाता. यह ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें निरूपित किया गया होनेसे यहां विस्तार नहीं करते हैं.

अवतरणिका :

विरोधपरिहाराय स्वसिद्धान्तं वक्तुं परमतानि आहुः :

कारिका :

अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः॥

मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं च इति न एकधा॥४॥

भावानुवाद :

(ज्ञेय भगवत्स्वरूप)

पहले कहे गये जगत्कारणरूपके बारेमें विभिन्न वादी और भी कुछ कहते हैं कोई मायिक, कोई त्रिगुणात्मक, कोई कार्यरूप तो कोई स्वतन्त्र, और यों एक तरहका वर्णन नहीं करते॥४॥

विवृति :

अपरम् इति, वेदमताद् अपरं भिन्नं मतं पूर्वस्मिन् प्रपञ्चरूपेण आविर्भूतं तत्र अक्षरे ब्रह्मणि इति अर्थः. मायिकम् इति हि मायावादिनः. सगुणं गुणकार्यम् इति सांख्याः. कार्यं द्व्यणुकादिक्रमेण ईश्वरकार्यम् इति नैयायिकाः. स्वतन्त्रं “न कदाचिद् अनीदृशं जगद्” इति मीमांसकाः. चकारेण वेदबाह्यमतानि संगृह्यन्ते.

अनुवाद :

विरोधके परिहारके लिये अपना सिद्धान्त कहनेको परमतोंकी चर्चा कर रहे हैं :

वेदके मतसे भिन्न भी और भी भिन्न मत पहले कहे गये प्रपञ्चके रूपमें आविर्भूत होनेवाले उस अक्षरब्रह्मके बारेमें मायिक ऐसा मायावादी मानते हैं. त्रिगुणात्मक तीन गुणोंके परिणामरूप सांख्यमतवाले मानते हैं. कार्यरूप अर्थात् दो अणुओंको जोड़ कर एक द्व्यणुक,

तीन द्व्यणुकोंको जोड़ कर एक त्र्यणुक आदि क्रमिक रूपोंमें जोड़ कर ईश्वरद्वारा निर्मित जगत् कार्यरूप है ऐसा नैयायिक मानते हैं. स्वतन्त्र “जगत् जैसा वर्तमानमें है वैसा ही सर्वदा था” ऐसा मीमांसक मानते हैं. और कह कर वेदबाह्य मतोंका भी सूचन कर दिया.

अवतरणिका :

एतानि मतानि श्रुतिबलेनैव निराकृतानि सन्तीति न अत्र पार्थक्येन निराकरणीयानि, स्वमतनिरूपणेनैव निराकरणसम्भवाद् इति आशयेन स्वसिद्धान्तम् आहुः :

कारिका :

तदेव एतत्प्रकारेण भवति इति श्रुतेः मतम्॥
द्विरूपञ्च अपि गंगावज् ज्ञेयं सा जलरूपिणी॥५॥
माहात्म्यसंयुता नृणां सेवतां भुक्तिमुक्तिदा॥
मर्यादामार्गविधिना तथा ब्रह्मापि बुध्यताम्॥६॥
तत्रैव देवतामूर्तिर् भक्त्या या दृश्यते क्वचित्॥
गंगायां च विशेषेण प्रवाहाभेदबुद्धये॥७॥
प्रत्यक्षा सा न सर्वेषां प्राकाम्यं स्यात् तथा जले॥
विहितात् च फलात् तद्धि प्रतीत्यापि विशिष्यते॥८॥

भावानुवाद :

(भगवान्के अवान्तरूप)

श्रुतिका मत तो यही है कि वह ब्रह्म ही यह सब कुछ बना है उस अक्षरब्रह्मके ऐसे दोनों रूपोंको गंगादेवी और गंगानदीके जल की तरह समझना चाहिये. जैसे तीर्थ होनेके माहात्म्यवाली गंगानदी मनुष्योंको भोग और मोक्ष दोनों तरहके फल प्रदान करती है, मर्यादामार्गकी विधिके अनुसार. वैसे ही ब्रह्मके

बारेमें भी जानना चाहिये. उसी गंगानदीके प्रवाहमें जो कभी-कभाक मूर्तिमती देवीके दर्शन ऐसे भक्तिभाववाले भावुकोंको होते हैं, वे गंगादेवी और गंगाजल के बीच भेदभाववाली बुद्धि न रखते हों तो ही. उस गंगादेवीके दर्शन सभीको नहीं होते पर जिसे होते हैं उसे गंगाजलके बारेमें भी वैसा ही भाव बन जाता है. तीर्थसेवनका जो भी विहित फल दिखलाया गया है उससे कहीं अधिक विशेष फलरूपता उसे अपनी प्रतीतिके कारण भी ऐसे भावुकको वहां लगने लगती है॥५-८॥

विवृति :

तदेव इति, “स ह एतावान् आस”, “सर्वं खलु इदं ब्रह्म, तज्जलान्” (छान्दो.उप.३।१।४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः तथा इति अर्थः. एकस्यैव अक्षरस्य उक्तं द्विरूपत्वं दृष्टान्तेन उपपादयन्ति द्विरूपम् इति, प्रपञ्च-तद्भिन्न-रूपाभ्यां द्विरूपं तद् ब्रह्म गंगावद् ज्ञेयम्. अस्ति गंगायां त्रिरूपत्वम् : ^१आधिभौतिकं जलरूपम् एकं, यद् वृष्ट्यातपाभ्यां वृद्धिहासौ भजते, सर्वव्यवहारयोग्यत्वं च ^२अग्रिमा द्वितीया आध्यात्मिकी तीर्थरूपा, या उद्धृतजलाविशेषेऽपि मर्यादामार्गसम्बन्धी यो विधिः तेन तत्रैव स्नानपूजादिभिः फलदा. एवमेव प्रपञ्च-तद्भिन्नरूपमपि एकमेव तद् अक्षरं ब्रह्म इति बुध्यताम् इति अर्थः. ^३आधिदैविकं रूपम् आहुः तत्रैव इति, उक्तद्विरूपायां गंगायामेव देवतारूपा सा तद्भिन्ना अस्ति इति अर्थः. तत्र मानम् आहुः ...मूर्तिः इति. भक्त्यैव नतु मर्यादामार्गविधिना उपासनया इति अर्थः. तदपि क्वचिदेव भक्त्युद्रेकदशायामेव. अथवा यत्र क्वचिद् गृहादिष्वपि इति अर्थः. भक्तविशेषे विशेषम् आहुः गंगायाम् इति, देवतारूपायां गंगायां भक्त्युद्रेकेण दृश्यमानप्रवाहाद् अभिन्नत्वेन यस्य बुद्धिः तस्मै गंगायां प्रवाहमध्यएव (देवतारूपा गंगा) प्रत्यक्षा भवति इति अर्थः. एतेन प्रपञ्चमध्यएव भगवदाकार-भगवद्भक्तयोः दर्शने भगवति स्नेहातिशयेन तत्र भगवद्भेदबुद्ध्ये

तत्र भगवत्प्राकट्यं भवति इति भावः सूच्यते. अग्रिमव्यवस्थाम् आहुः प्राकाम्यम् इति, स्वाभीष्टस्वसर्वस्वरूपायाः स्थानभूतत्वेन ज्ञानात् तज्जले सर्वत्र अनिषिद्ध-यथेष्ट-व्यवहारः स्याद् इति अर्थः. एवमेव उक्तप्रकारक-भगवद्दर्शने सर्वत्र तद्भावः स्फुरति इति भावः. विहिता... इति, भक्त्या गंगादर्शनानन्तरं प्रवाहरूपायापि दर्शनं विहितात् स्वर्गापवर्गरूपात् फलाद् विशिष्यते तद्बुद्धि इति अर्थः. यद्वा येषां न प्रत्यक्षा तेषामपि तथा देवतारूपया सा तत्र अस्ति इति तत्सम्बन्धानुभावेनैव तज्जले प्राकाम्यं प्रकृष्टकामविषयत्वं श्रद्धाविशेषपूर्वक-स्नानादि-व्यवहारो भवति इति अर्थः. किञ्च पुराणादिषु तज्जलदर्शनादिभिः फलं यद् उक्तं तदनुभवेन महताम् अन्तःकरणप्रतीत्यापि तज्जलम् अन्येभ्यो जलेभ्यो विशिष्यते इति अर्थः. एवं येषां हृदि भगवत्सान्निध्यं ते भक्ताः अन्येभ्यो विशिष्यन्ते. अतएव “मल्लिंग-मद्भक्तजन-दर्शन-स्पर्शना-ऽर्चनम्” (भाग.पुरा.११।११।३४) इति भगवता उक्तम्.

अनुवाद :

इन मतोंका निरसन श्रुतिके आधारपर किया गया होनेसे यहां पृथक् निराकरण अपेक्षित नहीं है. अतः अपने श्रौत मतके प्रतिपादनसे ही इनका निराकरण सिद्ध हो जाता होनेसे अब अपना श्रुतिप्रतिपादित सिद्धान्त ही कहना उचित होगा :

वह ब्रह्म ही, “वही इतना सब बना”, “यह सभी कुछ ब्रह्म है, उसकी ‘तज्जलान्’के रूपमें उपासना करनी चाहिये” (बृह.उप.१।४।३, छान्दो.उप.३।१।४।१) इन श्रुतिवचनोंके आधारपर ऐसा स्वीकारना आवश्यक है. एक अक्षरब्रह्मके दो तरहके रूपोंको समझना हो तो दृष्टान्तद्वारा उपपादन दोनों रूपोंको अर्थात् प्रपञ्चरूप और प्रपञ्च से भिन्न रूप भी दोनों तरहके रूपोंवाले उस अक्षरब्रह्मको गंगाजीकी तरह समझा जा सकता है. वैसे तो गंगाजीके तीन रूप विचारे जा सकते हैं : ^१आधिभौतिक रूपमें वह एक नदीका

जल है, जो बरसाद या गरमी के कारण बढ़ता या घटता हो, और इसके साथ सभी तरहसे बरताव किया जा सकता है ^२दूसरा तीर्थरूपा गंगा होनेका आध्यात्मिक रूप, जो देखनेपर तो नदीमेंसे भरे गये जलसे अलग नहीं लगता परन्तु फिरभी मर्यादामार्गिक विधि-विधानके अनुसार वहां स्नान पूजा आदिके धर्मानुष्ठान निभानेपर फलप्रद माना जाता है। इसी तरह प्रपञ्चरूप और प्रपंचसे भिन्नरूप दोनों तरहके अक्षरब्रह्म को एक ही जानना चाहिये यह आशय है। ^३आधिदैविक रूपको समझना हो तो उसी अर्थात् जैसा कि कहा गया दो तरहके रूपोंवाली गंगाके भीतर ही तीसरी देवतारूपा गंगा और अन्तर्निहित रहती है। इस बारेमें प्रमाण देते हैं मूर्तिमती देवी द्वारा। इसके दर्शन तो भक्तिभावके वश होते हैं केवल मर्यादामार्गिक विधि-विधानोंके अनुष्ठानके वश नहीं। वह भी कभी-कभाक ही भक्तिभावके उद्रेक होनेकी दशामें। अथवा कभी अपने घर आदिमें भी। किसी विशेष भक्तके उदाहरणमें विशेषतया यह भी कहा जा सकता है गंगा देवीके बारेमें अर्थात् गंगादेवीके बारेमें भक्तिभावके उद्रेकवश दिखलायी देते जलप्रवाहसे जिसे देवी भिन्न न लगती हो उसे गंगाके जलप्रवाहमें भी (देवतारूपा गंगा) प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रपञ्चके बीचमें ही भगवदाकार या भगवद्भक्त के दर्शन होनेपर भगवान्के बारेमें अतिशय स्नेहके वश वह भगवदाकार या भगवद्भक्त जब भगवान्से भिन्न न लगते हों तब तो वहां भी भगवान्का प्राकट्य सम्भव हो जाता है। भगवान्के प्रकट अनुभूत होनेपर तो विशेष फलरूपता अर्थात् अपनी अभीष्ट अपनी सर्वस्व देवीके आधारस्थान होनेके ज्ञानके कारण उस जलके बारेमें कहीं-कभी निषिद्ध कोई व्यवहार तो कर नहीं पाता परन्तु पूजा या आदर का यथोचित व्यवहार शक्य बन जाता है। जैसा कि कहा गया वैसे भगवान्के भी दर्शन होनेपर सर्वत्र भगवद्भाव स्फुरित होने लगता है। जो भी विहित फल... इस अंशद्वारा भक्तिके साथ गंगाजीके दर्शन करनेपर जलप्रवाहरूप गंगाजीके दर्शन भी जो विहित फल

स्वर्ग या मोक्ष दिखलाये गये हैं उनसे विशेष गंगाजीके भक्तके हृदयमें अनुभूत होने लगते हैं। अथवा जिन लोगोंके सामने कभी गंगादेवी प्रकट न भी हुयी हों उन्हें भी वह देवी वहां जलप्रवाहमें विद्यमान है ऐसे सम्बन्धके अनुभाववश उस जलके बारेमें विशेष फलरूपता अर्थात् प्रकृष्ट कामनाकी विषय लगने लगती होनेके कारण विशेष श्रद्धाके साथ स्नान आदि व्यवहार निभा पाना सुकर बन जाता है। इसके अलावा पुराण आदि ग्रन्थोंमें भी तो गंगाजीके जल दर्शन आदिके कारण जो फल मिलते दिखलाये गये हैं वे इन महापुरुषोंकी आन्तरिक प्रतीतिके वश भी गंगाजलकी विशेषता अन्य जलोंकी तुलनामें लगने लगती है। इसी तरह जिनके हृदयमें भगवान्का सान्निध्य होता है ऐसे भक्त अन्योकी तुलनामें कुछ विशेष लगने लगते हैं। अतएव “मेरी मूर्ति या मेरे भक्तजन का दर्शन स्पर्श या पूजन” (भाग.पुरा.११।११।३४) की बात भगवान्ने कही है।

अवतरणिका :

एवं दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं निरूप्य उक्तम् अर्थं स्पष्टयन्ति :

कारिका :

यथा जलं तथा सर्वं यथा शक्ता तथा बृहत्॥

यथा देवी तथा कृष्णः तत्रापि एतद् इह उच्यते॥९॥

भावानुवाद :

गंगानदीके जल जैसा यह सारा जगत् है। जैसे गंगा एक तीर्थ है वैसे ही बृहत् या अक्षरब्रह्म होता है। गंगादेवी जैसे कृष्ण होते हैं, इस बारेमें कुछ और यह भी कहना है॥९॥

विवृति :

यथा जलम् इत्यादिना। तत्रापि इति, साधर्म्येऽपि। एतद् इति,

किञ्चित् तारतम्यम्. इह प्रपञ्चरूपे, दृष्टान्ते त्रिविधत्वाभावाद् अतः उच्यते.

अनुवाद :

इस तरह दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक के बीच समान धर्मों के निरूपण के बाद अब उसे और स्पष्ट करनेको कहते हैं :

गंगानदीके जलके जैसा होनेके प्रतिपादनमें इस बारेमें कुछ और यह भी अर्थात् दोनोंके धर्म समान होनेपर भी. यह कुछ तारतम्य है. इस बारेमें प्रपञ्चरूप ब्रह्मके बारेमें, दृष्टान्तमें गंगाजल तीन तरहका नहीं होनेके कारण कहना है.

कारिका :

जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवाः ततः ॥
देवतारूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणि इत्थं हरिर् मतः ॥१०॥
कामचारस्तु लोके अस्मिन् ब्रह्मादिभ्यो न च अन्यथा ॥
परमानन्दरूपेतु कृष्णे स्वात्मनि निश्चयः ॥११॥
अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर् विधीयताम् ॥

भावानुवाद :

जगत्को तो तीन तरहका कहा गया है अतः ब्रह्मा विष्णु और शिव भी इस कारणसे तीन तरहके जगत्के अधिदेवता जैसे ब्रह्ममें से प्रकट होते हैं. पर अक्षरब्रह्ममें तो श्रीहरि एक ही तरहके अधिदेव होते हैं. इस जगत्के सारे काम-काज तो ब्रह्मा विष्णु या शिव के अधिदेवत्वद्वारा ही नियत हैं अन्य तरह नहीं परन्तु परमानन्दरूप कृष्णको तो स्वयं अकेले ही अपने बारेमें जानना चाहिये. अतः ब्रह्मवादके अनुसार कृष्णमें अपनी बुद्धि लगानी चाहिये ॥१०-११॥

विवृति :

जगत्तु इति, त्रिविधं त्रिगुणात्मकं त्रिस्वभावत्वेन प्रकटं, तेन तद्गुणनियामकत्वेन ब्रह्मादयो भगवतैव कृता इति अर्थः. ब्रह्म एकरूपमिति तन्निष्ठानां नियामको हरिरेव. येतु भगवद्भक्ताः तेषां स्वात्मनि स्वात्मविषये ऐहिके पारलौकिके च अर्थे श्रीकृष्णएव कामचारः इति अर्थः. सर्वत्र नियामकः सएव इति भावः. अथवा भक्तानां स्नेहातिशयेन स्वात्मत्वेनैव प्रभुः स्फुरतीति सर्वांशेन तत्प्रार्थने शंका न भवति इति अर्थः.

अनुवाद :

जगत् तो अर्थात् तीन तरहका सात्त्विक राजस और तामस गुणोंवाला अर्थात् तीन तरहके स्वभाववाला प्रकट हुवा है. अतः इन तीन गुणोंके नियामक भी तीन ब्रह्मा विष्णु और शिव ऐसे रूप भगवान्ने प्रकट किये हैं. अक्षरब्रह्म तो एक ही होनेके कारण, अक्षरब्रह्मके भीतर जो जीव प्रकट हुवे हैं, उनके नियामक हरि भी एक ही हैं. जो भगवद्भक्त होते हैं उनके अपने बारेमें अपनी आत्माके बारेमें उसके ऐहिक या पारलौकिक फलके बारेमें श्रीकृष्णके ही साथ सारा काम-काज चलता है. वही सर्वत्र नियामक बनता है. अथवा भक्तोंको अतिशय स्नेहके कारण सभी तरह प्रभु अपनी आत्माके रूपमें स्फुरित होते होनेसे उनकी प्रार्थना(आकांक्षा)के बारेमें शंका नहीं होती.

अवतरणिका :

अथ जीवस्वरूपं तन्मुक्तिप्रकारं च आहुः :

कारिका :

आत्मनि ब्रह्मरूपेतु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः ॥१२॥
उपाधिनाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने ॥
गङ्गातीरस्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति ॥१३॥

तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति ॥
 संसारी यस्तु भजते स दूरस्थो यथा तथा ॥१४॥
 अपेक्षितजलादीनाम् अभावात् तत्र दुःखभाक् ॥
 तस्मात् श्रीकृष्णमार्गस्थो विमुक्तः सर्वलोकतः ॥१५॥
 आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेत् ॥

भावानुवाद :

(भगवत्सेवाकर्ता जीवात्माके त्रिविध स्वरूप)

अक्षरब्रह्मरूप जीवात्माकी चेतना, छलनी रख देखनेपर आकाश जितना दिखलायी देता है उतनी सी (अपनी अहन्ताकी छलनीमें अनुभूत) होती है. अतः उस उपाधिके नाश होनेपर अपनी ब्रह्मरूपताका बोध जब होता हो तब अपने भीतर निगूढ़ परमात्माके स्वरूपका विज्ञान हो पाता है, तब गंगातटपर स्थितको जैसे गंगा देवीका साक्षात्कार हो जाये वैसे. ऐसा ज्ञानी स्वयंके भीतर परंब्रह्म कृष्णके श्रेष्ठ दर्शनका लाभ पा लेता है. जो संसारी रह कर, परन्तु, भजनमें प्रवृत्त होता है वह तो गंगातटसे दूर कहीं रह कर गंगाका भजन करनेवाले जैसा होता है. अतः गंगाजल आदिके वहां उपलब्ध न होनेसे दुःखी सा रहता है. अतः लोककी सभी झंझटोंसे मुक्त हो कर श्रीकृष्णके मार्गमें अवस्थित हो कर आत्मानन्दके समुद्रमें लहराते कृष्णका ही चिन्तन करना चाहिये ॥१२-१५॥

विवृति :

आत्मनि इति, आत्मविषये उच्यते इति शेषः. जीवाः हि अणवो अक्षरात्मकाः. तदात्मकत्वम् अविद्याया अन्तरायभूतया न विदन्ति. तेन संसारम् आपद्यन्ते. इदमेव उपाधिरूपत्वं तस्याः नतु तत्कृतं जीवत्वम्.

अणुत्वबोधनार्थं दृष्टान्तो व्योम्नि यथा उपाधिभिः क्षुद्रैः छिद्राणीव प्रतीयन्ते तथा आत्मनि क्षुद्रत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते. नतु ब्रह्मधर्माः इति बोधनार्थं च. उपाधिनाशे इति, तेषां मध्ये यं जीवं येन प्रकारेण प्रभुः उद्दिधीर्षुः भवति, तत्प्रकारक-गुरुपदेशादिभिः अविद्यालक्षणोपाधेः ब्रह्मात्मकत्वावबोधन-प्रतिबन्धकस्य अविद्यात्मकस्य नाशे ब्रह्मात्मकत्वावबोधनलक्षणे विज्ञाने अनुभवे सम्पन्ने पुरुषोत्तमाविर्भावयोग्यता तस्मिन् जाते स्वात्मनि तं प्रकर्षेण पश्यति इति अर्थः. तस्य सर्वस्वरूपो हरिरेवेति न तदतिरिक्तम् अपेक्षते. भजनोपयोग्यार्थपेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पद्यतइति न कदाचिद् दुःखी भवति. एतज्ज्ञापनाय दृष्टान्तः. यस्तु प्रपञ्चासक्तो गुरुपदेशमात्रेण भजने संसारनिवृत्तिहेतुत्वं ज्ञात्वा भजते, नतु ब्रह्मभावसम्पत्त्या पुरुषोत्तमाविर्भावान् सतु गंगातो दूरस्थो यथा तां भजते, तत्र अपेक्षित-तज्जलाप्राप्त्या दुःखी भवति तथा. स्वयं भक्तिमार्गस्थइति साक्षात्स्वरूपसम्बन्धार्थपेक्षायां तदप्राप्त्या क्लेशभाग् भवति इति अर्थः. तथापि न स भजनं त्यजति, अंगीकारात् प्रभोः, अनङ्गीकारेण मध्ये भजनप्रतिबन्धेऽपि कृतभजनवैयर्थ्यासम्भवाद् जन्मान्तरे तत् फलिष्यति इति ज्ञेयम्. आत्मानन्दसमुद्रस्थम् इति, 'श्रीकृष्ण'पदात् पुष्टिमार्गीय-भक्तप्रकाटित-निरवध्याननन्देषु विहरन्तम् इति अर्थः. तेतु ब्रजरत्नात्मकाः इति मन्मतिः. स आनन्दो भगवत्स्वरूपात्मकः तददत्तएव. अत 'आत्म'पदं भगवत्परम्.

अनुवाद :

अब जीवका स्वरूप और उसकी मुक्तिके प्रकार का निरूपण करते हैं :

जीवात्मा... अपनी आत्माके बारेमें यहां कुछ कहा जा रहा है. जीवात्मा अणुपरिमाणमें प्रकट हुवा अक्षरब्रह्म है. स्वयंका अक्षरब्रह्म होना अंशी और अंश के बीचमें अवस्थित आन्तरालिकी अविद्याके कारण अनुभूत नहीं होता. इसी कारण हम संसारमें पड़ जाते हैं. इस रूपमें अविद्या उपाधि होनेका काम करती है. स्वयं जीवात्मा अविद्याके कारण प्रकट नहीं हुवे. छलनीके दृष्टान्तमें यह अवधेय है

कि आकाश जैसे छलनीके क्षुद्र छिद्रोंमेंसे क्षुद्र परिमाणवाला प्रतीत होता है, वैसे ही आत्माके प्रतीत होते क्षुद्रत्व आदि धर्मोंके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. जीवात्माके ऐसे क्षुद्रत्व आदि धर्म ब्रह्मके धर्मोंके रूपमें नहीं मान लेने चाहिये. उपाधिके नाश होनेपर इन जीवोंके बीचमेंसे जिस जीवका भगवान् जैसे उद्धार करना चाहते हों, उसे वैसे ही गुरु और उपपदेश आदि मिल जाते हैं. तब अविद्याकी उपाधिके नाश होनेपर अपनी ब्रह्मरूपताका बोध हो पाता है. यों उसमें प्रतिबन्ध बनी अविद्याका नाश भी हो जाता है विज्ञान विशेष अनुभव से सम्पन्न होनेपर जो अपने पुरुषरूप जीवात्माके भीतर पुरुषोत्तमके आविर्भावकी योग्यतासे सम्पन्न होते हैं वे अपने भीतर ही उसका श्रेष्ठ प्रकारके दर्शन कर पाते हैं. हरि ही उसे अपने सर्वस्व लगने लगते होनेके कारण उनके सिवा और किसीकी अपेक्षा उसे रह नहीं जाती. भजनार्थ अपेक्षित सकल धन(सामग्री/सुविधा)की अपेक्षा भी प्रभु उपलब्ध करवा देते हों उसे पा कर वह सन्तुष्ट ही रहता है. कभी दुःखी नहीं हो पाता. यही बात समझानेको दृष्टान्त दिया गया है. अब जो प्रपंचमें आसक्त संसारी होनेपर भी, सांसारिक आसक्ति सेवा करनेसे दूर हो जायेगी, ऐसे गुरुके केवल उपदेशके कारण श्रीकृष्णसेवामें परायण हुवा हो; अर्थात् ब्रह्मभावके सम्पन्न न हो पानेके कारण जिसके भीतर पुरुषोत्तमका आविर्भाव ही न हुवा हो, वह तो गंगातटसे दूर कहीं बसनेवाले जैसा गंगाजीका भजन करनेवाला, वहां अपेक्षित गंगाजलकी अप्राप्तिके कारण दुःखी होता हो वैसे ही यह कृष्णकी सेवा करनेवाला भी हो सकता है. स्वयं, परन्तु, भक्तिमार्गीय होनेके कारण, साक्षात् कृष्णस्वरूपकी सेवाके हेतु अपेक्षित सामग्री जुटानेकी भावना रखनेके बावजूद, न जुटा पानेके कारण, कुछ न कुछ क्लेश तो उसे होगा ही. फिरभी यदि ऐसा सेवापरायण भजनका त्याग न करे तो, भगवान् ने अंगीकार किया होनेके कारण, बीचमें कुछ भजनमें प्रतिबन्ध होनेपर भी, किया गया भजन व्यर्थ कभी न जाता होनेके कारण जन्मान्तरमें अपना अभिलषित फल

(चित्तप्रवणतामूलक मानसी सेवा) पा लेता है. आत्मानन्दके समुद्रमें लहराते यहां, 'श्रीकृष्ण' पदके प्रयोगके कारण पुष्टिमार्गीय भक्तके भावात्मक निःसीम आनन्दोंमें विहार करनेवाले श्रीकृष्णकी बात कही जा रही है. ब्रजकी गोपिकायें ऐसी ही थीं ऐसा लगता है. क्योंकि उन्हें वैसा भावात्मक भगवत्स्वरूपका आनन्द स्वयं भगवान् ने ही प्रदान किया था. अतः 'आत्मानन्द'में 'आत्म'पदद्वारा अभिप्रेत स्वयं भगवान् हैं.

अवतरणिका :

स्वस्वरूपज्ञान-प्रभुस्वरूपज्ञानाभाववान् भक्तोऽपि पुष्टिमर्यादाभेदेन द्विविधः. उभयोः चित्तचाञ्चल्याभावाय आहुः :

कारिका :

लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा ॥१६॥

क्लिष्टोऽपि चेद् भजेत् कृष्णं लोको नश्यति सर्वथा ॥

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु ॥१७॥

मर्यादास्थस्तु गंगायां श्रीभागवततत्परः ॥

अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ॥१८॥

उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति ॥

ज्ञानाधिको भक्तिमार्ग एवं तस्माद् निरूपितः ॥१९॥

भावानुवाद :

लौकिक लाभकी कामनावाला यदि कृष्णके भजनमें प्रवृत्त होता है तो वह सर्वथा क्लेश ही पाता है. क्लेशोंको झीलते हुवे भी यदि कोई कृष्णके भजनमें तत्पर रह पाता हो तो उसके लौकिक लाभके भाव नष्ट हो जाते हैं. जो पुष्टिमार्गी हो उसे ज्ञानके अभावमें भगवान् की पूजा और उत्सव आदिमें तत्पर होना चाहिये. मर्यादामार्गीको गंगाके तटपर श्रीभागवतके

परायणमें तत्पर होना चाहिये. पुष्टिमार्गमें नियामक तो भगवान्का अनुग्रह ही होता है यह स्थिति है. दोनोंको अन्तमें तो क्रमशः पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति तो होगी ही. इस कारणसे ज्ञानमार्गकी तुलनामें भक्तिमार्गकी कुछ अधिकता सिद्ध होती है॥१६-१९॥

विवृति :

ज्ञानाभावे इति, पुष्टिमार्गीय विशेषम् आहुः अनुग्रहः इति. तस्य स्थितौ न देशनियमः किन्तु प्रभुः अनुगृह्य यत्रैव यथा स्थापयति तत्रैव तिष्ठति तथा. तस्य विधिः न नियामकः इति भावः. मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेद् अनुगृह्णाति विशेषतः, तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुते इति आहुः उभयोः इति. यदि मर्यादायामेव अंगीकारः तदा उभयोः मुक्तिरेव फलिष्यति इति आशयः. एवं निरूपणे तात्पर्यम् आहुः ज्ञानाधिकः इति, लोके अधुना भक्तेरपि फलं ज्ञानं, तस्य मुक्तिरेव इति सर्वे वदन्ति. तत्र ज्ञानं हि ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं; ब्रह्म च अक्षरात्मकं, तदात्मकत्वेन सर्वज्ञानं च. एतावतापि पुरुषोत्तमसम्बन्धस्तु दूरतः, तस्य अक्षरातीतत्वात्. अतएव अर्जुनेन पुरुषोत्तमाक्षरभजनयोः तारतम्यं पृष्टः स्वभजने आधिक्यम् आह गीतासु द्वादशे अध्याये. गंगायां च क्षराक्षरपुरुषोत्तमतारतम्यदृष्टान्तः स्पष्टः, नहि देवी तीर्थात्मिका जलात्मिका वा किन्तु जलएव तीर्थात्मकत्वं जानन् ज्ञानी भवति. तदतीतदेवतात्मकदर्शने भक्तत्वम्. नहि भक्त्या देवताद्रष्टृसमः पूर्वो भवति. अतएव पुरुषोत्तमं मां जानन् मामेव सर्वभावेन भजति इति “यो माम् एवम् असम्मूढः” (भग.गीता.१५।१९) इति उपक्रम्य “भजति मां सर्वभावेन” (भग.गीता.१५।१९) इति प्रभुः उक्तवान्. अतो ज्ञानमार्गीयस्यापि पुरुषोत्तमविदोऽपि भक्तिनिष्ठैव फलमिति किम् इतो अधिकं वाच्यम्! अनेकप्रमाणसिद्धत्वाद् इति विद्वद्भिः ज्ञेयम्. ऋग्वेदेऽपि पठ्यते “तमु स्तोतारः पूर्वं यथाविदः ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन. आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे” (ऋक्संहि.१।१५६।३). “हे स्तोतारो!”=मदुत्कर्षवर्णनपराः “पूर्वं”=

सर्वकारणकारणरूपं ‘तं’=लोकवेदप्रसिद्धं पुरुषोत्तमं भवन्तो यथावद् विदन्ति तत्स्वरूपमिति तथाभूताः. ‘ऋतस्य’=सूनुतवाणीरूपस्य वेदस्य ‘गर्भं’=रूपं, स्वोदरस्थं वेदं विश्वहितार्थं ब्रह्मणे उपदिष्टवानिति तथा. ‘जनुषा’=स्वजन्मनैव सम्पूर्णेन, नतु क्षणायाममात्रेण ‘पिपर्तन’=पूर्तियुक्तं सन्तुष्टं कुरुत. अत्र ‘यथावित्’त्वोक्त्या पूर्णज्ञानानां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवान् तदर्थमेव तद्भजनार्थमेव उपयुक्तान् कुरुत इति भक्तिमार्गे विनियोगम् उपदिशति. तेन स्फुटमेव ज्ञानमार्गाद् भक्तिमार्गस्य आधिक्यम् अवगम्यते. भक्त्या विना न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्यति इति हृदयेन आह अग्रे देहादिसर्वविनियोगाशक्तौ ‘आ’समन्ताद् ‘जानन्तो’=अखण्डशब्दब्रह्मरूपं, नतु लौकिकशब्दरूपम् इति नामस्वरूपं जानन्तः तदेव ‘विविक्तन’=विशेषेण वदन्तु. अधिकमाहात्म्याद्यज्ञाने नाममात्रम् उत कीर्तयन्तु. एतेनैव भगवत्स्वरूप-तन्माहात्म्यादिकं ज्ञातं भविष्यति इति आशयेन आह नामस्वरूपं ‘चिद्’ इति. ‘चिद्’ इति उपलक्षणं सच्चिदानन्दात्मकम् इति अर्थः. नामस्वरूपाज्ञाने तदुपदेष्टृगुरुरसत्तिः कार्या इति आशयेन आह ‘महस्ते’ इत्यादि. ‘ते’=त्वत्सम्बन्धिनं ‘सुमतिं’=निर्दोषपूर्णगुणत्वेन भवन्तं जानन्तं भगवद्भक्तं ‘भजामहे’. सच स्वतेजसा पराज्ञाननिरासकः इति आह ‘मह...’ इति, तेजोरूपम् इति अर्थः. स्वहृदि सदा श्रीकृष्णप्राकट्येन उत्सवात्मकम् इति वा. एतेन ज्ञानिनां भक्तिमार्गप्रवेशएव उपदिष्टो भवति. एवमेव “तद् विष्णोः...” “तद् विप्रास...” (ऋक्संहि.१।२२।२०-२१) इत्यादिश्रुतिसहस्रैः निगद्यतइति सुष्ठूक्तं “ज्ञानमार्गाद् अधिको भक्तिमार्गः” इति.

अनुवाद :

स्वयं अपने स्वरूप और अपने प्रभुके स्वरूप को न जाननेवाला भक्त दोनों तरहका हो सकता है पुष्टिमार्गीय भी या मर्यादामार्गीय भी. दोनोंका चित्त भगवान्में प्रवण न होनेके बजाय कहीं चंचल न हो जाये एतदर्थ उपाय दिखलाते हैं :

ज्ञानके अभावमें पुष्टिमार्गीयके बारेमें कुछ विशेष कहनेकी बात

यह है कि भगवान्‌का अनुग्रह अर्थात् पुष्टिमार्गीयको कहाँ रहना इस बारेमें देशका कोई नियम नहीं है. क्योंकि भगवान् अनुग्रह प्रदान करने जहाँ भी रखना चाहें वहीं रख कर उसे अपनी कृपा प्रदान कर सकते हैं. उसके बारेमें कोई विधि-विधान नियामक नहीं होते. मर्यादामार्गके ज्ञानी या भक्त पर भी यदि भगवान् विशेष कृपा करना चाहें तो उसे पहले पुष्टिमार्गकी ओर खींच कर पुष्टिमार्गीय भक्ति प्रदान करते हैं. यह बात कहते हैं दोनोंको अर्थात् यदि मर्यादामार्गमें ही किसीका अंगीकार हो तो तब तो दोनोंको मुक्ति ही प्रदान करेंगे. ऐसे प्रतिपादनका तात्पर्य यह है कि ज्ञानमार्गकी तुलनामें भक्तिमार्ग कुछ अधिक है. हालमें तो भक्तिका फल ज्ञान और ज्ञानका फल मुक्ति ही लोग मानते-कहते हैं. समझनेकी कोशिश करनी चाहिये कि ज्ञानका स्वरूप ब्रह्मके साथ स्वयंका एकसार हो जाना है. यह ब्रह्म अक्षरात्मक होनेसे अन्तमें इस अक्षरब्रह्मके रूपमें सबका ज्ञान होना ही ज्ञानमार्गमें फलरूप होता है. इससे अक्षरब्रह्मरूप धामके स्वामी पुरुषोत्तमके साथ तो सम्बन्ध दूरका भी जुड़ नहीं पाता, उसके अक्षरातीत होनेके कारण. अतएव अर्जुनने जब पुरुषोत्तम और अक्षरब्रह्म के बीच तारतम्यके बारेमें पूछा तो भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायमें अपने भजनकी ही अधिकता दिखलायी. यहाँ गंगाजीके उदाहरण दिये जानेके कारण क्षरब्रह्म अक्षरब्रह्म और पुरुषोत्तम के बीच तारतम्य स्पष्ट हो जाता है. क्योंकि देवी स्वयं तीर्थात्मिका या जलात्मिका नहीं होती प्रत्युत जलके तीर्थात्मक होनेके ज्ञानवालेको ज्ञानी माना जाता है. उस तीर्थसे भी अतीत जो साक्षात् देवी उस देवीके कारण तीर्थको देवताके रूपमें निहारनेवाला भक्त होता है. भक्तिभाववश देवीके दर्शन कर पानेवालेके बराबर जलको भी तीर्थरूप जाननेवाला हो सकता है. अतएव पुरुषोत्तमको जो जान पाता है वह भगवान्‌का सर्वभावसे भजन कर पाता है. “जो किसी प्रकारके सम्मोहके बिना मुझे पुरुषोत्तम होनेके रूपमें जानता है” (भग.गीता.१५।१९) इस तरह उपक्रम करके “वही मेरा सर्वभावसे भजन कर पाता है” (भग.गीता.१५।१९) ऐसा

भगवान्‌ने कहा है. अतः ज्ञानमार्गीयके लिये भी और पुरुषोत्तमको जाननेवालेके लिये भी भक्तिनिष्ठा रखना फलरूप हो तो और अधिक क्या कहना! यह बात विद्वानोंको अनेक प्रमाणोंके आधारपर सिद्ध होनेके कारण समझनी चाहिये. ऋग्वेदमें भी अतएव कहा गया है “उस पूर्वसिद्धकी स्तुति करनेवालो! उसे भलीभांति जाननेवालो! ऋतको अपने गर्भमें रखनेवालेको जीवनसे सन्तुष्ट करो. उसके चिद्रूप नामको पूर्णतया जान कर बोलनेको हे तेजोरूप विष्णु! हम आपकी सुमंतिका भजन करते हैं” (ऋक्संहि.१।१५६।३). ‘स्तुति करनेवालो!’=भगवान्‌के उत्कर्षका वर्णन करनेवालो ‘पूर्वसिद्ध’=सभीके कारणोंके भी कारणरूप ‘उस’=लोक और वेद में प्रसिद्ध पुरुषोत्तमके स्वरूपको आपने भलीभांति जान लिया है अतः वैसे होनेके कारण. ‘ऋतको’=सूनुत वाणीरूप वेदके ‘गर्भ’=रूपको, अपने उदरमें रहे वेदको विश्वहितके लिये ब्रह्माजीको उपदेश देनेवालेको. ‘जन्मसे’=अपने संपूर्ण जीवनसे ही, कालमें कुछ क्षण या कुछ याम(तीन घंटे) भरके लिये नहीं. ‘सन्तुष्ट’=पूर्णतया सन्तुष्ट करो. यहाँ ‘भलीभांति जाननेवाले’ कहनेका अभिप्राय जिन्हें पूर्ण ज्ञान हो उन्हें अपने देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण और जीव को भगवान्‌के लिये भगवान्‌के भजनमें उपयोगमें लाना चाहिये, इस तरह यह भक्तिमार्गमें विनियोगका उपदेश है. अतः स्फुट होता है कि ज्ञानमार्गकी तुलनामें भक्तिमार्गका आधिक्य है. भक्तिके बिना कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता. देहादि सभीके भगवत्सेवामें विनियोग कर पानेकी सामर्थ्यके अभावमें ‘पूर्णतया जाननेवालो’=अखण्ड शब्द ब्रह्मके रूपमें जाननेवालो, लौकिक शब्दके रूप नहीं, भगवान्‌के नामका ऐसा स्वरूप जाननेवालो, उसे ‘बोलते रहो’=अधिक माहात्म्य न भी समझ पाते हो तब भी भगवान्‌के नाममात्रका संकीर्तन करते रहो. इसके कारण भगवान्‌का स्वरूप, भगवान्‌का माहात्म्य आदि सभी कुछ अवगत हो जायेगा इस आशयसे नामका स्वरूप ‘चिद्रूप’ इस तरह कहा. वैसे तो भगवन्नाम सच्चिदानन्दात्मक होता है यह अभिप्राय है. नामस्वरूपका ज्ञान न हो तो उसका उपदेश करनेवाले गुरुके

पास जाना चाहिये. यह 'तेजोरूप' इत्यादि द्वारा सूचित करते हैं. 'आपकी'=आपसे संबन्ध रखनेवाले जो भगवान्‌को 'सुमति'=निर्दोष और पूर्णगुण वाले मानते हों ऐसे भगवद्‌भक्तका 'भजामहे'=भजन करते हैं. वह अपने तेजसे परायोंके अज्ञानका निरासक हो जाता है, यह 'तेजोरूप...' आदि द्वारा कहा . ऐसोंका हृदय सदा श्रीकृष्णके प्राकट्यके कारण उत्सवात्मक रहता है. यों ज्ञानियोंके लिये भी भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेका उपदेश दिया गया है. इसी तरह "तद् विष्णोः...", "तद् विप्रास..." (ऋक्संहि.१।२२।२०-२१) इत्यादि हजारों श्रुतिवचनोंमें कहा गया है. अतः ठीक ही तो कहा कि "ज्ञानमार्गकी तुलनामें भक्तिमार्गकी कुछ अधिकता है" इति.

अवतरणिका :

गंगादृष्टान्तस्य तात्पर्यान्तरम् आहुः :

कारिका :

भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः ॥

अन्यथा भावम् आपन्नः तस्मात् स्थानात् च नश्यति ॥२०॥

एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम् ॥

एतद् बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात् ॥२१॥

इति श्रीवल्लभाचार्यविरचिता सिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा

भावानुवाद :

(सिद्धान्तनिष्कर्ष)

भक्तिके न होनेपर तो गंगानदीके तटपर रहनेवाला भी अपने दुष्ट कर्मोंके कारण, अन्यथाभावसे ग्रस्त हो कर उस तीर्थस्थानके लाभसे वंचित रह जाता है और उसका नाश भी होता है. इस तरह अपने

शास्त्रमें जो गुप्त रहस्य था उसका मैंने निरूपण किया. इसे भलीभांति जान लेनेवाला सभी सन्देहोंसे उभर कर मुक्त हो सकता है ॥२०-२१॥

इस तरह श्रीवल्लभाचार्यद्वारा रचित

सिद्धान्तमुक्तावली

सम्पूर्णा हुयी

विवृति :

भक्त्यभावेतु इति, भगवत्सान्निध्यदेशेऽपि स्थितौ भक्त्यभावे तथा भवति इति भावः. एतेन भक्तेः आवश्यकत्वम् उक्तं भवति.

इति श्रीपितृ-पादाब्ज-पराग-रस-सिक्त-हृत् ॥

श्रीविट्ठलस् तत्सिद्धान्त-वाङ्मालां हृदये दधौ ॥१॥

अनुवाद :

गंगाजीका जो दृष्टान्त दिया उसका एक और भी तात्पर्य कहना है :

भक्ति न होनेपर तो भगवान्‌के सांन्निध्यवाले स्थलपर रहते होनेपर भी भक्तिभाव न होनेके कारण ऐसी दुर्गति हो सकती है. अतः भक्तिकी आवश्यकता कही जा रही है.

पूज्य पिताके चरणकमलके परागरससे सिक्तहृदय ।

श्रीविट्ठल सिद्धान्तवचनकी माला निज उपर धारे ॥



॥ भक्तिवर्धिनी ॥

ग्रन्थपरिचय

चौरासी वैष्णवोंकी वार्ताके भावप्रकाशके अनुसार भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ श्रीमहाप्रभुने सांचोरा पुरुषोत्तम जोशी के लिए लिखा था. एक किंवदन्तीके अनुसार इस ग्रन्थका प्रणयनकाल वि.सं. १५५२ माना जाता है तथा प्रणयनस्थल प्रयाग, परन्तु भावप्रकाशके अध्ययन करनेपर लगता है कि इस ग्रन्थकी रचना गुजरातके किसी गांवमें हुई होनी चाहिये :

तब एक समय श्रीमहाप्रभुजी गुजरात पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशी मध्यान्हके समय एक तलावपर सन्ध्या करत हुते. तब श्रीआचार्यजी तलावपर पधारिके सन्ध्यावन्दनकरन लागे. सो पुरुषोत्तम जोशी की ओर कृपा करिके दैवी जानि देखे. तब पुरुषोत्तम जोशी श्रीआचार्यजीके पास आई नमस्कार करि पूछ्यो -

महाराज ! यह कर्ममार्ग बडो के ज्ञानमार्ग बडो ?

तब श्रीआचार्यजी कहे - “जाके मनमें दृढ़ जो मार्ग आवे, जामे जाको विश्वास होय, वाके भाये तो वह मार्ग बडो; और बडो तो भक्तिमार्ग है जामें जीव कृतार्थ होई. और ज्ञानमार्ग कर्ममार्ग सो कृतार्थ कठिनतासों होई. सो काहूसों निर्वाह होय नाही. काहेते? कष्ट साध्य है. सो या कालमें शरीरको कष्ट कयों न जाई. कोऊ शरीरको कष्ट सहे तो मन ठिकाने रहे. ताते भक्तिमार्गमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाही.”

“तब पुरुषोत्तम जोशीने कही जो “महाराज ! भक्तिको स्वरूप कहा, कृपा करिके कहिये!” तब श्रीआचार्यजी कहें - “भक्तिको स्वरूप

वर्णन करिये तो पार आवे नाही परन्तु कछुक तोकों कहत हों.” तब ‘भक्तिवर्धिनी’ ग्रन्थ करि ग्यारह श्लोक पुरुषोत्तम जोशीकों सुनाये. सो यह उत्तम अधिकारी है. ताते सगरो बोध हो गयो.”

इस तरह भक्तिवर्धिनी पुरुषोत्तम जोशीके हृदयमें भक्तिके वर्धनार्थ लिखी गई थी, गुजरातमें ही कहीं पुरुषोत्तम जोशी के गांवमें. इसके उपदेशके बाद पुरुषोत्तम जोशी सपत्नीक श्रीमहाप्रभुके अनुयायी हुए; और अव्यावृत्त होकर अपने घरमें कृष्णसेवामें तत्पर हो गये - “सो दोऊ जन प्रीतिसों सेवा करन लागे. पाछे श्रीआचार्यजी द्वारिका पधारे. सो पुरुषोत्तम जोशीने बहोत दिन सेवा करी. भगवद्भावमें मगन रहते, अव्यावृत्त होई रहे. काहूके आगे अपने हृदयको भाव प्रकट न करते.”

कर्म-ज्ञान-भक्ति

भगवद्-गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुन भी भगवान्से ये ही प्रश्न कर बैठा था कि ज्ञानयोग यदि श्रेष्ठ है तो कर्मकी क्या आवश्यकता है; और कर्म यदि आवश्यक है तो फिर ज्ञानयोग किस अर्थमें श्रेष्ठ है. भगवान्ने वहां अर्जुनको समझाया है कि कर्मके अनारम्भ या त्यागके कारण ज्ञानयोग श्रेष्ठ नहीं बन जाता. क्योंकि फलासक्ति-रहित कर्म अर्थात् निष्काम-कर्म भी इस दृष्टिसे ज्ञानयोगसे मिलते लाभोंको देनेमें सक्षम है. कर्मके फलोंमें आसक्ति बनी रही तो ज्ञानमार्गीय साधकके नैष्कर्म्यका भी अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं है. कर्मके फलोंके आकर्षणके रहते हुए कर्मका त्याग निरा पाखण्ड है.

भगवान् कहते हैं कि उन्हें, आत्माराम-आप्तकाम होनेपर भी, कर्मत्यागके बजाय लोकसंग्रहार्थ ही सही पर कर्म अधिक सुहाता है. कोई भी ज्ञानी स्वयम् परमात्मासे अधिक निष्काम या आप्तकाम हो नहीं सकता फिर ज्ञानयोगके नामपर कर्मत्यागकी क्या आवश्यकता है!

ज्ञानयोगी हो अथवा कर्मयोगी दोनोंको ही स्वधर्म-स्वकर्मका अनुष्ठान फलासक्तिके बिना करना चाहिये. क्योंकि परधर्मका भलीभांति अनुष्ठान भी स्वधर्मके बिन-भलीभांति किये गये अनुष्ठानसे श्रेष्ठ नहीं है. अर्जुनने इस सन्दर्भमें एक महत्वपूर्ण प्रश्न भगवान्‌के समक्ष उपस्थापित किया है. वह पूछता है कि स्वधर्म-पालनकी जब इतनी अधिक महत्ता है तब व्यर्थ लोग कभी स्वधर्मके त्यागद्वारा तो कभी परधर्मके अनुष्ठानद्वारा पापाचरण क्यों करते हैं?

भगवान्‌ने इस प्रश्नका विलक्षण उत्तर दिया है कि स्वधर्मत्याग अथवा परधर्माचरण के द्वारा मनुष्य पापोंको बटोरता रहता है, अपने काम और क्रोध के वशीभूत होकर ज्ञानियोंकी ज्ञानाग्नि भी बहुधा कामके धुंएमें घिर जाती है. काम ही ज्ञानियोंका चिरशत्रु होता है.

भगवान्‌की बात बड़ी अटपटी लगती है कि क्यों केवल ज्ञानमार्गीय साधक ही कामनाओंका शिकार बनता है, कर्ममार्गीय या भक्तिमार्गीय साधक क्यों नहीं? कामनाओंका आकर्षण तो सभी मार्गोंके साधकोंमें प्रारम्भमें तो रहता ही है या कमसे कम रह सकता है! परन्तु थोड़ा ध्यानसे देखनेपर पता चलेगा कि हमारी ममता और अहन्ता का ही अदम्य विस्फोट क्रमशः काम और क्रोधके रूपमें होता है. अतएव भगवान्‌ कहते हैं -

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(भग.गीता.३।३७)

हमारी अहन्ता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर क्रोधके रोगका रूप धारण कर लेती है. इसी तरह हमारी ममता हमारे रजोगुणका साथ पाकर हमारे भीतर कामके रोगका रूप धारण कर लेती है.

इन काम तथा क्रोधके रूपोंमें हमारी ममता तथा अहन्ता के राजस विस्फोटसे ध्वस्त होती साधकोंकी साधनाकी सुरक्षाके उपायरूप अनेक मार्ग प्रवृत्त हुए है.

चारमार्ग

(१) बुद्धने आत्मचेतनाको काम-क्रोधके आवेगोंसे बचानेके लिए इनकी बीजभूत अहन्ता और ममता को ही तोड़ देनेका उपाय सुझाया था. एतदर्थ अनात्मवादपर आधारित 'नाहम्' की भावना तथा विज्ञानवादपर आधारित 'न मम'की भावना को जगाने पर भार दिया गया. मानों हमारी चेतनामें अहन्ता और ममता की ग्रन्थियोंमें यदि क्रोध और कामके व्रण हो गये हों तो उन्हें रुझानेके बजाय इन ग्रन्थियोंकी ही शल्यचिकित्सा कर दी गई. वैदिक शास्त्रोंको यह शल्यकर्म सभी स्थितियोंमें मान्य नहीं था. अतः बुद्धसे पूर्व ही कर्मयोग ज्ञानयोग एवम् भक्तियोग की प्रणालियोंमें अन्य अघोर एवम् अक्लिष्ट चिकित्सा इनकी सोची गई.

(२) कर्मयोगकी प्रणालीमें अहन्ताको तोड़नेकी परवाह किये बिना ममताको विभिन्न देवताओंसे जोड़नेकी चिकित्सा-प्रणाली अपनायी गई हैं - “अग्नये स्वाहा अग्नये इदं न मम - सूर्याय स्वाहा सूर्याय इदं न मम” इत्यादि. “वित्तं च मे पुत्रं च मे पशुंश्च मे” की ममतामयी सकाम-कर्म-वृत्ति वाले साधकोंकी ममताको - “देवतायै इदं न मम” की प्रणालीद्वारा निष्काम-कर्मकी ओर कर्मयोग आगे बढ़ाना चाहता है. स्वयम्‌के उपभोगसे पूर्व देवताओंके यजनकी आवश्यकता है. अतएव कर्मयोगके निरूपणमें गीता हमें समझाती है :

“कर्म किये बिना कोई रह नहीं पायेगा, अपनी प्रकृतिके अनुरूप विवश होकर कुछ न कुछ कर्म तो सभीको करने ही पड़ेंगे. ऐसी स्थितिमें कर्मैन्द्रियोंको संयत करनेके पाषण्डमें विमूढ़ साधक अपने असंयत

मनको इन्द्रियार्थोंके चिन्तनमें डुबा देते हैं। जबकि सच्चि विशिष्टता तो मनसे इन्द्रियोंको संयत करके कर्मेन्द्रियोंसे आसक्तिरहित कर्मयोगको करते रहनेमें है! अतएव नियत कर्मोंको करते रहना उत्तम है, उन्हें त्याग देनेके बजाय। सर्वथा कर्मत्याग करनेपर तो शरीरयात्रा भी नहीं निभ पायगी। और फिर इस लोकमें वे ही कर्म बन्धनरूप माने गये हैं, जिनका अनुष्ठान यज्ञकर्मके रूपमें नहीं होता। अतः यज्ञार्थ किया गया कर्म तो असंगभावसे करते ही रहना चाहिये। प्रजापतिने भी प्रजाकी सृष्टि यज्ञके साथ ही की है। अतः यज्ञ ही हमारी सारी कामनाओंको भलीभांति पूर्ण करता है। हमें यज्ञके द्वारा देवताओंको देनेकी वस्तु उन्हें देनी चाहिये और यज्ञभावित देवगण जो हमें मिलना चाहिये वह हमें देंगे। इसी आदान-प्रदानमें हमारा परमश्रेय रहा हुआ है। जो देवताओंने हमें दिया है उसमें से जो उन्हें देने लायक है उसे दिये बिना जब हम अपने उपभोगमें लेते हैं तो हम चोर बन जाते हैं। अतएव यज्ञके बाद बची हुई वस्तुओंके उपभोगकी जीवनप्रणालीमें पापस्पर्श नहीं होता है। फिर भी जो केवल अपने लिए पकाते हैं और खाते हैं वे अन्नका नहीं प्रत्युत पापका ही भक्षण करते हैं।”

इस विस्तृत उद्धरणके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है कि कर्मयोग हमारी अहन्ताकी परवाह अधिक नहीं करना चाहता किन्तु ममताको मार्गदर्शन देना चाहता है। ममतामें रचे-पचे मनुष्य अपने उपभोगसे पूर्व यदि थोड़ी सी धीरज धरके देवताओंके लिए “इदं न मम” कहना सीख पायें तो निष्कामताके मार्गपर आगे बढ़ा जा सकेगा। यही निष्काम-कर्म अन्तमें आत्मसुख या शाश्वत स्वर्गका सुख प्रदान करेगा। परन्तु अहन्ताकी उपेक्षाके कारण इस कर्ममार्गमें प्रारम्भिक साधनावस्थामें अहन्ता और राजसगुणके साहचर्यसे पनपे क्रोधकी सम्भावना पदे-पदे रहती है। कर्मयोग ममताको ही स्वस्थ बनाता है।

(३) ज्ञानमार्ग अतः अहन्ताकी चिकित्सा- उसे स्वस्थ बनानेका

प्रयास है। कर्मयोगमें जैसे ममताको देवताओंसे जोड़ा गया था इसी तरह ज्ञानयोगमें हमारी अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास करना पड़ता है- “योहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा” अर्थ: मैं जो कुछ हूँ-मैं ब्रह्म ही हूँ। हां, मैं हूँ- मैं ब्रह्म हूँ। मैं ही मैं मेरा होम (ब्रह्ममें) करता हूँ।

कर्मयोग जैसे प्रारम्भमें-“पुत्रं च मे वितं च मे” की कामनाओंसे घिरे सकामकर्मकर्ताको निष्काम-कर्मकी ऊंचाइपर उठानेके लिए “इदं न मम” में प्रशिक्षित करता है। यज्ञाग्निमें अपनी ममताकी आहूति देनी पड़ती है। वैसे ही ज्ञानयोग ब्रह्माग्निमें अपनी अहन्ताकी आहूति देना सिखलाता है। ज्ञानयोग हमारे अहंकारकी चिकित्सा है। ध्यान रहे कि ‘अहम्’ की आहूति ब्रह्माग्निमें देनी है- अपने अहंकारकी धधगती ज्वालाओंमें ब्रह्मकी आहूति ज्ञानयोग नहीं है!

वाक्य उद्देश्य-विधेयभाव-घटित होता है। जैसे “गाय प्राणी है” वाक्यमें ‘गाय’ उद्देश्य है और ‘प्राणी’ विधेय है। इसी तरह “अहं ब्रह्मास्मि” में ‘अहम्’ उद्देश्य है और ‘ब्रह्म’ विधेय है। अतएव अहमास्पद जीवात्माको ब्रह्म मानना वास्तविक ब्रह्मबोध है; तथा व्यापक अंशी परमात्माके साथ अंशरूप जीवात्माकी अहन्ताको सच्चे परिप्रेक्ष्यमें देखना है। ब्रह्मको उद्देश्य मानकर अहंकारको विधेय बनाना सभी प्राणिओंको गाय माननेके जैसी त्रुटी है। ब्रह्म तो त्वंकारस्पदभी हैं- “तत्त्वमसि” में और इदंकारास्पद भी है- “सर्वं खलु इदं ब्रह्म” में। प्राणी तो गाय हाथी और घोड़ा आदि अनेक प्रकारके होते हैं। अतः सभी प्राणीओंको गाय माननेकी जैसी त्रुटी ब्रह्मको अहमास्पद माननेवाले कर बैठते हैं। अंशीको अहम् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह त्वम् भी है और इदम् भी। अहम्को किन्तु अंश होनेके कारण अंशी ब्रह्म कहा जा सकता है। बापके जैसा बेटेका चेहरा होता है बेटेके जैसा बापका नहीं!

अतएव श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि लहरोंको 'समुद्रकी लहरें' कहना चाहिये-समुद्रोको 'लहरोंवाला समुद्र' नहीं (समुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रस्तांग इति). किनारोंपर पहुंच कर लहरें अपनी आहूति समुद्रमें देती हैं पर भला कभी समुद्रकी आहूति किसी लहरमें दी जा सकती है क्या ?

ज्ञानमार्गी अहन्ताकी चिकित्सापर भार देता है- ब्रह्मके साथ अपनी अहन्ताको जोड़कर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है. परन्तु इस प्रणालीमें ममताकी उपेक्षा हो जाती है और उसी ममताके विकृत होनेपर ज्ञानीके ज्ञानमें कामकें व्रण प्रकट हो जाते हैं! ममताको छोड़कर केवल अहन्ताको ब्रह्मके साथ जोड़नेका प्रयास ज्ञानमार्ग है. सफल होनेपर ब्रह्मानन्दकी उपलब्धि होती है और विफल होने पर "अहं ब्रह्मास्मि" का उद्देश्य विधेयमें बदल जाता है. प्रायः ज्ञानमार्गीय विविदिषुके "अहं ब्रह्मास्मि" के जपमें ब्रह्मके बजाय अहम्पर भार आजाता है और इस महावाक्यका अर्थ बदल जाता है!

कभी विफल ज्ञानमार्गीय साधककी उपेक्षित ममता ज्ञानमार्गपर दौड़ते हुए साधकको गोधूलीकी वेलामें शिष्येषणा जैसी कामनाओंका रूपधारण कर मोहपाशमें बांध लेती है. अतएव भगवान् कहते हैं -

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ? ॥

(भग.गीता.३।३३)

ये दोनों ही मार्ग, कर्मयोग और ज्ञानयोगके, यात्राकी सफलतापर मुक्तितक पहुंचानेवाले मार्ग हैं, पर अहन्ता और ममता में से एक ही किसीको स्वस्थ करनेके ये अपूर्ण प्रयास होनेसे हमारे काम और क्रोध के रोगोंकी पूर्ण चिकित्सा नहीं करते. भक्तियोग ही हमारी अहन्ता-ममताको पूर्णतया स्वस्थ रखनेकी एकमात्र चिकित्साप्रणाली है- अकठोर मृदु पूर्ण एवम् भयरहित!

(४) 'भक्ति' शब्द भज+क्तिन् को जोड़ने पर बनता है. 'भज' धातुकी प्रकृतिका अर्थ है: सेवा. 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ होता है : प्रेम. अतः 'भक्ति' शब्दका कुल अर्थ होता है: प्रेमके साथ की जानेवाली सेवा.

यह भक्ति हमारी अहन्ता-ममताकी पूर्ण चिकित्सा है. शरणागत पुष्टिजीवको भगवत्सेवामें लगाकर यह उसकी अहन्ताको भगवान्के साथ जोड़ देती है-'सोहम्' की प्रक्रियासे नहीं किन्तु 'दासोहम्' की प्रक्रियासे. सेवा सचाईसे हम उसीकी कर सकते हैं जिनके सामने हमारा अहंकार झुक जाये. पुष्टिप्रभु ब्रजाधिप श्रीकृष्णके सम्मुख अपने अहंकारको "श्रीकृष्णः शरणं मम" कह कर अथवा "दासोहं कृष्णस्तव" कह कर झुका देना पुष्टिभक्त या पुष्टिभक्ति की प्रकृतिमें निहित अर्थ है. अहंकार झुकते ही तनको भी झुकना पड़ेगा. अतएव सिद्धान्तमुक्तावलीमें तनुवित्ता सेवा तथा सिद्धान्तरहस्यमें सर्वसमर्पण की बात समझा कर चतुःश्लोकीमें ब्रजाधिपके भजनको ही स्वधर्म माना गया है.

संस्कृत भाषाका एक नियम है कि प्रत्येक शब्दके घटक प्रकृति और प्रत्यय अपने-अपने अर्थका बोध एकसाथ ही पैदा करते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं. फिर भी प्रत्ययके अर्थकी कुछ प्रधानता होती है. 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ प्रेम भी 'भक्ति' शब्द के दूसरे घटक 'भज' धातुके अर्थ सेवाकी तुलनामें कुछ प्रधानता लिए हुए है. प्रेम होता है किसीके प्रति मनके झुकनेपर. मन जहां झुका कि ममता भी उस और मुड़ने लगेगी.

हमारी ममताके श्रीकृष्णके साथ जुड़नेकी बात चित्तकी कृष्णप्रवणताके रूपमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें समझायी गई. चतुःश्लोकीमें श्रीकृष्णके प्रति अपनी ममताको मोड़नेकी क्रियाको ही पुष्टिमार्गीय काम कहा गया है. वही काम - वही कृष्णदर्शन-कामना 'भक्ति' शब्दमें 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ है.

चतुःश्लोकीमें भजन और स्मरण के निरन्तर चक्रकी तरह चल पडनेकी क्रियाको मोक्ष माना गया है (स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः.भ.व.४). अपरोक्षमें भजन या कायिकी सेवा हमारी अहन्ताके कृष्णसे जुडनेकी निशानी है. परोक्षमें स्मरण या हमारे चित्तकी कृष्ण-तन्मयता हमारी ममताके कृष्णसे जुडनेकी निशानी है. पुष्टिभक्त न तो अपनी अहन्ता या ममता को देह या विषयों में मुक्त छोड़ता है; और न उन्हे तोडता ही है. क्योंकि तोडना आवश्यक नहीं है. पुष्टिभक्त अपनी अहन्ता एवम् ममता को ब्रजाधिप श्रीकृष्णके साथ जोडता है. जिस दिन-जिस क्षण ये दोनो भलीभांति श्रीकृष्णके साथ जुड जाती है, उसी दिन पुष्टिजीव मुक्त हो जाता हैं. इससे अधिक और कोई मतलब मुक्तिका पुष्टिजीवके लिए नही होता.

हमारी अस्वस्थ अहन्ता-ममताकी क्लेशरहित, सम्पूर्ण एवम् शुभ चिकित्सा भक्ति है. अतएव श्रीमहाप्रभुने पुरुषोत्तम जोशीको समझाया था कि “ज्ञानमार्ग अरु कर्ममार्ग सों कृतार्थ कठिनतासों होई. तातें भक्तिमार्गमें जीव कृतार्थ होई और आश्रय नाहीं...”

जब भक्ति ही हमारे संसार-रोगकी पूर्ण चिकित्सा है तो भक्तिरसायनके अनुपानको ही क्यों न बढ़ाया जाये! वस्तुतः तो भक्तिको औषधी मानना भी भक्तिकी पूर्ण महत्ताका विवरण नहीं है. क्योंकि भक्ति पुष्टिजीवके लिए औषधीसे कहीं अधिक स्वयम् स्वास्थ्य ही है. परमात्माके प्रति जीवात्माकी भक्ति न होना जीवात्माके अस्वास्थ्यका लक्षण है. पुष्टिप्रभु ब्रजाधिप श्रीकृष्णके प्रति पुष्टिजीवका पुष्टिभक्तिके भावसे रहित होना भी उसकी अस्वस्थताका लक्षण है. गीताके छठे अध्यायकी समाप्तिपर अतएव भगवान भी कहते है- “मुझे कर्ममार्गीय ज्ञानमार्गीय तपस्वी साधकोंमें जो योगी हैं वे अधिक मान्य लगते हैं. योगियों में भी श्रद्धापूर्वक जो अपनी अन्तरात्माको मेरे साथ जोड करके मेरा भजन करता है वे मुझे सभीमें युक्ततम लगते हैं.”

इस जगतमें आहार-विहारकी जिन अनियमितताओं के कारण हम अपनी अहन्ता-ममताको अस्वस्थ बना लेते है, उनसे बचनेके लिए श्रीमहाप्रभुका स्वास्थ्यवर्धक उपदेश ‘भक्तिवर्धिनी’को सुनना समझना और हृदयमें धारण करना अत्यावश्यक है :

भगवान्के अनुग्रहके कल्पतरुसे लिपट कर ऊपर उठनेवाली भक्ति-कल्पलताकी वृद्धिके उपायोंको जानना अतः आवश्यक है.

भक्ति उस जीवात्मामें प्रकट होती है जिसका भगवान् भक्तिके लिए वरण करते हैं. अपनी भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा किया गया जीवात्माका वरण जीवात्मामें बीजभावके रूपमें सर्वदा विद्यमान रहता है. सत्संग गुरुकृपा या शास्त्रतात्पर्य-निर्णय के अनुकूल वातावरणमें कभी वह अंकुरित हो पाता है और कभी नहीं. श्रीप्रभुचरण कहते हैं कि स्वयम् परमात्मा इस एकान्तभक्ति या ब्रजभक्ति के बीजको बोता है-सत्संग एवम् गुरुकृपा के जलसे उसे सींचता है-अपने अनुग्रह-कल्पतरुका सहारा देकर उसे ऊपर उठाता है-उसपर उगनेवाले पुष्प-फलोंकी रक्षा भी एक सावधान मालीकी तरह वह स्वयम् ही करता है-तब इस भक्ति-कल्पलताका नष्ट होना या मुरझा जाना, उसे कैसे पसन्द आयेगा? अतः पुष्टिभक्तिका बीजभाव अनश्वर बीज-भाव है. जन्म-जन्मान्तों तक यह नष्ट नहीं होता. एक-एक जन्म ऋतुचक्रकी तरह आते और जाते रहते है-किसी ऋतुमें किसी लतापर फूल खिलते हैं और किसी ऋतुमें नहीं. इसी तरह भक्तिका बीजभाव भी किसी जन्ममें प्रेमके रूपमें अंकुरित हो पाता हैं और किसी जन्ममें नहीं.

भक्तिकी यह कल्पलता बढकर इतनी सघन हो जाये-पुष्टिके कल्पतरुके इर्दगिर्द इतनी फैल जाये कि दोनोंके पल्लवोंको पृथक करना कठिन हो जाये-पुष्टिकल्पतरु और भक्तिकल्पलता के पल्लव

परस्पर मिलकर पुष्टिभक्तिके रूपमें दिखलाई देने लग जायें- ऐसा उपाय श्रीमहाप्रभु हमें दिखलाना चाहते हैं लता जब वृक्षपर भलीभांति दृढ़तासे लिपट जाती है- फैल जाती है- तब उसके नष्ट होने या मुरझा जाने का भय कम हो जाता है. इसे ही 'बीजभाव की दृढ़ता' कहा जाता है.

दृढ़ बीजभाव तथा अदृढ़बीजभाव वाले जीवोंके लिए भक्तिकी फलात्मिका वृद्धिके उपाय :

अपनी प्रेमसेवात्मिका भक्तिके हेतु परमात्माद्वारा समारोपित वरणा बीजभाव जिन जीवात्माओंमें दृढ़ हो जाता है वे तो निःशंक श्रवण-कीर्तनकी प्रणालीसे भी भगवान्की मानसी सेवामें सर्वदा मग्न रह सकते हैं. अतः ऐसे भक्त गृहत्याग भी कर सकते हैं. परन्तु जिन भक्तोंका बीजभाव ही न हो उन्हें गृहत्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत अपने घरमें रहते हुए ही भगवत्सेवा तथा भगवत्कथा में अपने-आपको तत्पर बनाना चाहिये. तभी बीजभाव दृढ़ होगा.

भक्तिके तीन भेद होते हैं :

- १) भगवत्स्वरूपका बाह्य भजन
- २) भगवत्स्वरूपका आन्तर भजन
- ३) भगवन्नामात्मक भागवतका श्रवण-चिन्तन-कीर्तन

बाह्याभ्यन्तरभेदेन रूपे भेदद्वयं मतम्।

नाम्नि चैकं ततस्त्रेधा भक्तिमार्गो निरूपितः ॥

(त.दी.नि.प्र.२।२५४)।

जिसका बीजभाव दृढ़ हो गया हो अर्थात् पुष्टिभक्ति भगवत्प्रेमके रूपमें अंकुरित, भगवदासक्तिके रूपमें पल्लवित तथा भगवद्-व्यसनके रूपमें फलित होने लग गई हो तो ऐसे भक्तको भगवद्-व्यसनके स्वभाववश ही भगवान्के विरहकी तीव्र अनुभूतिमें सिद्धान्तमुक्तावलीमें वर्णित मानसी सेवा अर्थात् भगवत्स्वरूपको आन्तर भजन हो जाता

है. और एक कदम आगे बढ़नेपर सर्वात्मभावके सिद्ध होनेपर आसक्तिभ्रम-न्यायसे सभी इन्द्रियोंका भगवान्में विनियोग भी सिद्ध हो जाता है. ऐसे भक्तोंके लिए सर्वत्र भगवद्-भाव प्रकट हो जाता है. घर और बाहर का भेद लुप्त हो जाता है- वे घरमें बैठे हुएहों या बाहर, उनके मन और उनकी सभी इन्द्रियों से निरन्तर भगवान्की अनुभूति चलती रहती है. फलस्वरूप आसकरणदासजी (दृष्टव्य.२५२ वार्ता) की तरह उनका घरमें रहना अनिवार्य नहीं रह जाता है. वे गृहत्याग कर सकते हैं- भगवल्लीलाओंका श्रवण, भगवान्के स्वरूप, गुण एवम् लीलाओंकी भावना तथा उनके कीर्तन की मस्तीमें; या कभी भगवद्-विरहके तीव्रतापमें ऐसे भक्त कब घरको छोड़कर बाहर निकल जाते हैं यह उन्हें स्वयम् भी मालूम नहीं पड़ता! (विरहानुभवार्थ तु परित्यागः प्रशस्यते. सं.नि.७)

सर्वनिर्णय-निबन्धमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि केवल श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानकर-आन्तर और बाह्य रूपमें सभी बातोंका त्याग कर- श्रीकृष्णके विभूतिरूप सभी देवताओंका सन्मान करते हुए- देहपातपर्यन्त केवल श्रीकृष्णमें ही अपने मनको जो एकाग्र कर पाते हैं- उनकी वाणीका और कायाका श्रीकृष्णमें विनियोग हो पाये या नहीं- उनके मनकी एकाग्रता स्नेहमयी बन पाये या नहीं- उन्हें श्रीकृष्णमें सायुज्यका लाभ अवश्य ही मिल जाता है. पर भगवत्प्रेमके प्रबल प्रवाहके कारण दारा-आगार-पुत्र आप्त-प्राण-वित्त-आदिमें जिनकी ममताकी दीवार ढह जाती है और जो स्वयम् भी उस प्रबल प्रवाहके वेगसे घरके बाहर फिंक जाते हैं- ऐसे भक्त व्यसनदशाके परमभावोंकी भंवरोमें घिर जानेसे पुनःपुनः डूबते और उभरते रहते हैं! करोड़ों भक्तोंमें कभी-कभाक एकाद ही कोई कृष्णव्यसनी बन पाता है!!

बीजभावकी ऐसी दृढ़ताके अभावमें गृहत्याग श्रेयस्कर नहीं होता. अतः पहले बीजभावके दृढ़ होने तक धीरज रखनी चाहिये.

त्याग और वैराग्य भगवदनुरागकी तीव्रताके कारण प्रकट होते हों तो उन्हें स्वस्थ एवम् सरस मानना चाहिये. अन्यथा संसारमें केवल दोषदृष्टिके कारण जो वैराग्य पनपता है वह नीरस एवम् शुष्क, अतएव अस्वस्थ भी होता है. ऐसे अस्वस्थ वैराग्यवश व्यर्थ ही किसी भी वस्तुके त्याग कर देनेके बजाय उसे भगवान्‌को समर्पित कर देना चाहिये. हमारी अहन्ता और ममता के विषयोंको त्यागनेके बजाय उन्हें श्रीकृष्णको समर्पित कर श्रीकृष्णकी सेवामें उपयोग लानेवालेका बीजभाव दृढ़ हो सकता है. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अव्यावृत्त होकर स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवा तथा भगवत्कथामय जीवनयापन करनेवालेका बीजभाव दृढ़ होता है :

“बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।

अव्यावृत्तो भजेत् कृष्ण पूजया श्रवणादिभिः ॥” (भ.व.२)

स्वगृहमें स्वधर्म-भगवत्सेवाके विषयमें शास्त्रार्थ प्रकरणमें एक विशिष्ट बात श्रीमहाप्रभुने समझायी है कि ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिके लिए मोक्षकी चाहनासे भक्ति करनेवालोंको यह समझना चाहिये कि साध्य मोक्षके बजाय साधन भक्ति अधिक श्रेष्ठ हैं. जो जीव मुक्त होते हैं वे देहेन्द्रियादिके संघातको छोड़कर ही मुक्त हो पाते हैं - उनकी केवल आत्मा ही परमात्मामें लीन हो पाती है. जबकि भक्तोंके तो देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण गृह परिवार आदि सभी कुछ उनके घरमें बिराजते प्रभुकी सेवामें काम आते हैं. भक्तका तो संसार भी ब्रह्मात्मक हो जाता है. फलतः जीवन्मुक्तिके बजाय भक्तके लिए तो भगवत्कृपाके साथ गार्हस्थ्य ही श्रेष्ठतर होता है. अतः बीजभाव दृढ़ करनेके लिए यह आवश्यक है कि घरमें स्वधर्माचरणको निभाते हुए अव्यावृत्त होकर भगवद्-भजन करना चाहिये.

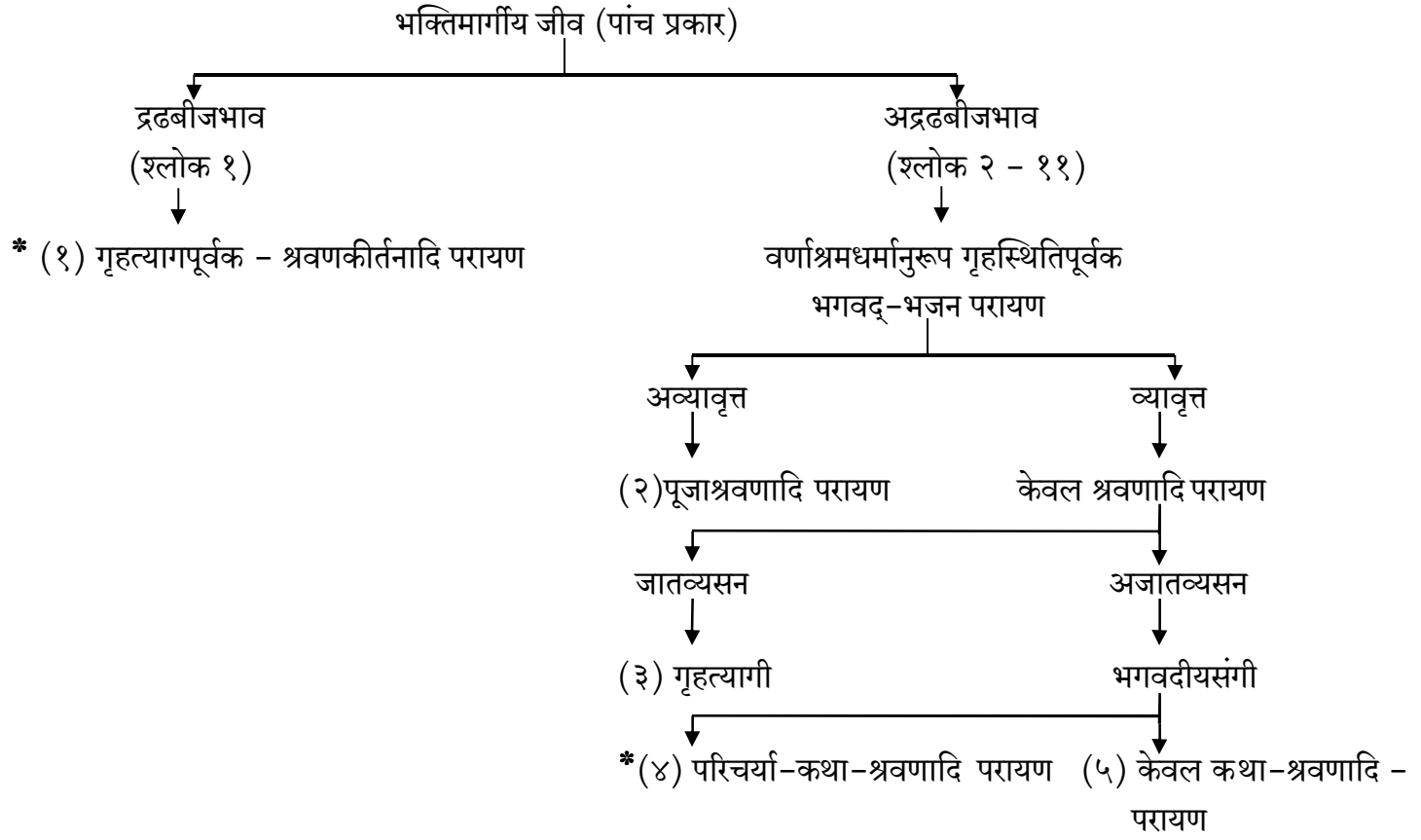
घरमें रहना है ता स्वधर्माचरणका त्याग सम्भव नहीं, पर स्वधर्मकी व्याख्या भी सरल नहीं है. ‘स्वधर्म’ का प्रथम अर्थ होता है : स्वयम्के

वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप यथाशक्ति शास्त्रविहित आचरण करना. शक्ति रहनेपर स्वधर्माचरणमें संकोच नहीं करना चाहिये. क्योंकि जब तक यह देह है और इस देहके साथ हमारी अहन्ता-ममता जुड़ी हुई है, तब तक वर्णाश्रम धर्म ही स्वधर्म है - भगवद्धर्म भी विधर्म या परधर्म की तरह हो जाता है. जब देहाभिमान शिथिल होने लग जाये तभी भगवद्दास्य या भगवत्सेवा आत्मदृष्टिसे स्वधर्म बन जाती है. तब वर्णाश्रमधर्म भी परधर्म बन जाता है (सुबो.३।२।८।२), अतः इस देहाभिमान और आत्माभिमान के अति कोमल और जटिल विवेकके साथ वर्णाश्रम-धर्मका निर्वाह करते हुए कृष्णभजनमें तत्पर रहना चाहिये. कृष्णभक्तिमें जैसा कि हम देख चुके हैं अहन्ताको स्वस्थ करनेका उपाय कायिकी सेवा ‘भज’ धातुका अर्थ है; और ममताको स्वस्थ करनेका उपाय चित्तको कृष्णप्रेमप्रवण बनना है. तदनुरूप अपरोक्षमें पूजा कायाको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है. और परोक्षमें श्रवण-चिन्तन-कीर्तन मनको भजनमें लगानेकी प्रक्रिया है.

स्नेह दृढ़ताके बिना कायासे प्रेमसेवा न भी निभ पाये पर माहात्म्यज्ञानको निभाते हुए पूजा तो निभाई जा सकती है. पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थमें इसी पूजाको - “प्रवाहेण क्रियारताः” कह कर व्यक्त किया गया है. सर्वनिर्णयमें २२७ वीं कारिकासे लेकर २४६वीं कारिका तक भजनके इसी क्रियापक्षका निरूपण किया गया है. यहीं “एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्” कहकर गार्हस्थ्यमें इसकी आवश्यकता दिखलाई है. यहीं २४०वीं कारिकामें श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि श्रवण-कीर्तन आदि द्वारा जब हरि हृदयमें निविष्ट हो जाते हैं तभी पूजाका निर्वाह निर्व्यग्रतया सम्भव हो पाता है. अतएव पूजाको यदि केवल क्रियारूप ही न रहने देना हो तो, श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्‌के स्वरूप गुण एवम् लीलाओंके श्रवण-भावन-कीर्तनकी प्रणालीसे, उसे प्रेममय बनाना होगा - “प्रेम्णोन्यत् साधनं नास्ति मुख्यं परं महत् श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम्.” (त.दी.नि.२।३२६). अन्यथा प्रेमरहित क्रियासे

बहुधा व्यग्रता उत्पन्न होती ही है. श्रीमहाप्रभु अतएव कहते हैं - “सप्रेम
इत्यनुद्वेगार्थम्” (त.दी.नि.२।२३०). भगवान्की पूजा करते समय अनन्य
भाव नहीं जग पाया तो हम अव्यावृत्त होकर भजन नहीं कर पायेंगे - भक्तिके
बजाय व्यर्थ ही मानसिक व्यग्रता बढा लेंगे.





॥ श्रीमद्रघुनाथकृतविवृत्युपेता ॥

॥ भक्तिवर्धिनी ॥

(पुष्टिभक्त्युपदेशपरा)

॥ श्रीमद्रघुनाथकृत विवृतिके साथ ॥

(पुष्टिभक्तिकी वृद्धिका उपदेश)

विवृतिमंगलाचरण :

वन्दे वृन्दावने वृन्दैर् गोपीनां वेष्टितं मुदा ॥
हरिणीभिः कृष्णसारमिव आभातं तदीक्षणम् ॥१॥
अपारदुःखदावाग्निदग्धजीवनम् ईक्षितम् ॥
यस्य तं यामि शरणं विद्वलेशम् अहं सदा ॥२॥

वृन्दावनमें गोपीवृन्दसे घिरे, हरिणीद्वारा निहारे जाते कृष्णमृगके
जैसे दिखलाई देनेवाले, को मेरे समोद वन्दन ! ॥१॥

अपार दुःखोंकी दावाग्निमें जलनेवालोंको जिलानेवाली दृष्टिसे
निरखनेवाले श्रीविद्वलेशके चरणोंका मुझे सदा आश्रय है ॥२॥

अवतरणिका :

अथ केनचित् परमपुण्येन प्राप्तमहापुरुषानुग्रहाद् भक्त्यङ्कुरितचित्तस्य
कदाचिद् अन्तरा सम्भाविततद्भङ्गस्य अभावाय भक्त्युद्रेकोपायनिरूपणं
प्रतिजानते :

कारिका :

यथा भक्तिः प्रवृद्धा स्यात् तथा उपायो निरूप्यते ॥
बीजभावे दृढेतु स्यात् त्यागात् श्रवणकीर्तनात् ॥१॥

भावानुवाद :

(उपक्रम)

जैसे उपायोंको करनेसे भक्ति प्रवृद्ध हो पाती हो

वैसे उपायोंका निरूपण करना है. बीजभाव दृढ़ हो
तो त्याग और श्रवण-कीर्तनसे बढ़ सकती है ॥१॥

विवृति :

यथा इति. यथा येन उपायाचरणप्रकारेण भक्तिः पूर्वोक्तेन हेतुना
अङ्कुरतां प्राप्य स्थिता सती प्रवृद्धा प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्ता च स्वकार्यकरणक्षमा
स्याद् भवेत् तथा तेनैव प्रकारेण उपायः साधनं निरूप्यते सोपपत्तिकं
कथ्यते इति अर्थः. अत्र अयं भावो : यथा अन्तःस्थितबीजे क्षेत्रादौ
सेचनादिबाह्योपायकरणं सफलं भवति, न अनुप्तबीजे; एवम् अत्रापि
भक्तिस्पृष्टान्तःकरणस्यैव एतदुच्यमानसाधनप्रवृत्त्यधिकारो न अन्यस्येति. इममेव
अर्थम् उद्दिश्य अग्रेपि आहुः बीजभावे दृढेतु स्याद् इति. उक्तभक्तिप्रवृद्धिः
कदा? इति अपेक्षायां बीजभावे दृढे सम्पन्ने स्यात्. कुतः? इति
अपेक्षायां त्यागात् भगवदतिरिक्त-विषयत्यागात्. श्रवणं च कीर्तनं च
एकवद्भावात् श्रवणकीर्तनाद् इति एकवचनम्. ननु को नाम बीजभावः?
उच्यते : भक्त्यसाधारणकारणं 'बीजम्' इति उच्यते, तत् च महदनुग्रहरूपम्.
तस्य भावः सद्भावः, तस्य दाढर्चं निश्चयः. यद्वा 'बीज'पदेन भगवान्
उच्यते. तस्मिन् भावः तद्विषयिणी व्यवसायात्मिका बुद्धिः "भगवानेव
आश्रयणीयो न अन्ये" इति एवरूपा. दाढर्चं तदनन्तर्हितत्वम्. 'तु'शब्दः
प्रसिद्धौ. तथैव वक्ष्यन्ति च "बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढं यद् नापि
नश्यति" (भ.व.४) इति.

अनुवाद :

अब परम पुण्यके कारण ही किसी महापुरुषका अनुग्रह होनेपर
चित्तमें भक्तिभाव अङ्कुरित हो पाता है परन्तु अधबीचमें ही वह
कहीं उखड़ न जाये इसलिये भक्तिकी वृद्धिके उपायोंका निरूपण करना
चाहते हैं :

यथा अर्थात् जिस उपायके अनुष्ठानके प्रकारसे भक्ति पूर्वोक्त

हेतुसे अंकुरित हुयी प्रवृद्धा भलीभांति बढ़ पाये और अपना काम करने सक्षम हो पाये वैसे उसी प्रकारके उपाय साधन का निरूपण उपपत्तिके साथ प्रतिपादन करना है. यहां आशय यह है : किसी खेत आदिकी भूमिके भीतर रहा बीज सींचने आदि बाह्य उपायोंको अपनानेपर सफल होता है, बीज ही न बोया गया हो ऐसी भूमिमें नहीं; इसी तरह यहां भी जिसके अन्तःकरणको भक्तिने छू लिया हो वही यहां कहे जानेवाली साधनामें प्रवृत्त हो पानेवाला अधिकारी होता है अन्य नहीं. यही बात आगे कह रहे हैं बीजभाव दृढ़ हो तो . उक्त भक्तिकी प्रवृद्धि कब होती है? इसे जानना हो तो बीजभावके दृढ़ होनेपर हो सकती है. ऐसा क्यों? उत्तर है त्यागसे भगवान्‌के सिवा हर विषयके त्यागसे. और भगवान्‌ (स्वरूप-गुणधर्म-नाम-लीलाके) श्रवण और कीर्तन द्वारा. इन दोनोंको एक ही सिक्काके दो पहलु समझानेको श्रवण-कीर्तन को जोड़ कर एकवचनका प्रयोग किया गया है. 'बीजभाव'का अर्थ क्या? समझो : भक्तिका जो असाधारण कारण हो उसे 'बीज' कहा जाता है, वह तो महापुरुषोंके अनुग्रहके रूपमें प्रकट होता है. उसका भाव सद्भाव, उसका दृढ़ निश्चय होना है. अथवा 'बीज'पदके अर्थके रूपमें भगवान्‌ कहे जा रहे हैं . उनके बारेमें भाव अर्थात् उनके बारेमें व्यवसायात्मिका धारणा कि "मुझे भगवान्‌के सिवा किसी दूसरेका सहारा नहीं" इस तरहकी धारणा. दृढ़ होना भीतर छिपे हुवे ही न रह जाना. 'तो' यह तथ्य प्रसिद्ध है जतानेको कहा. कहने ही वाले हैं कि "शास्त्रमें बीज उसे कहते हैं जो जिसका नष्ट न हो पाये" (भ.व.४).

अवतरणिका :

मर्यादामार्गीयाणां गृहस्थानां बीजदाढ्यप्रकारम् आहुः :

कारिका :

बीजदाढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ॥

अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः ॥२॥

भावानुवाद :

(स्वधर्मसे अव्यावृत्त गृहस्थके बीजभावकी दृढ़ता)

बीजभावको दृढ़ बनानेका प्रकार तो घरमें रह कर स्वधर्मके पालनके साथ अव्यावृत्त कृष्णका पूजन और श्रवणादि द्वारा भजन करना चाहिये ॥२॥

विवृति :

बीजदाढ्यप्रकारस्तु इति. "गृहे स्थित्वा कृष्णं भजेद्" इति अन्वयः. कथं? केन? इति आकांक्षाद्वयप्राप्तौ आद्यायां स्वधर्मतः स्वस्य यो धर्मः श्रुत्याद्युक्तो वर्णाश्रमधर्मः तत्सहितः सन् अव्यावृत्तो भगवद्भजनविरुद्धो लोकवेदधर्मव्यासंगो व्यावृत्तिः तद्ग्रहितः सन् इति अर्थः. केन? इति आकांक्षायां पूजया श्रवणादिभिः इति योज्यम्. अत्र प्रत्येक-समुदायाभ्यां पूजादिकं ग्राह्यम्. तत्र पूजा वेदपुराणोक्ता ग्राह्या. ऋग्विधानाद्युक्तपुरुषसूक्तादिभिः या सा वैदिकी. आगमपुराणाद्युक्ता अन्या. श्रवणन्तु श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहास-रामायणादिवाक्येभ्यएव. 'आदि'पदेन चिन्तनलीलानुकरणादिकं ज्ञेयम्. सर्वपिक्षया श्रवणस्य प्राधान्यं ज्ञेयम्. अतएव महाभारते श्रूयते "सर्वाश्रमाभिगमनं सर्वतीर्थावगाहनं न तथा फलदं सौते नारायणकथा यथा" इति.

अनुवाद :

मर्यादामार्गीय गृहस्थ भक्तोंके भक्तिबीजको दृढ़ बनानेका प्रकार समझाते हैं :

बीजभावको दृढ़ बनानेका प्रकार तो यह "घरमें रह कर कृष्णको भजना करना चाहिये" इसके साथ जुड़ता है. कैसे? किस उपायसे? इस तरहकी दो अपेक्षाओंकी पूर्तिकेलिये आद्य अपेक्षा कैसेका समाधान स्वधर्मके पालनके साथ अर्थात् स्वयंका जो श्रुति आदि शास्त्रोंमें

उपदिष्ट जो वर्णाश्रमधर्म उसके साथ अव्यावृत्त भगवद्भजनसे विरुद्ध लौकिक या वैदिक धर्मोंमें जुटे ही रखनेवाली व्यावृत्तिसे रहित हो कर. दूसरी अपेक्षा किस उपायसे के समाधानतया पूजा और श्रवणादि द्वारा इस तरह पदोंको परस्पर योजित करने चाहिये. यहां पूजा आदि प्रत्येक-समुदाय दोनों तरहसे लेने हैं. उनमें पूजा वेद-पुराणोंमें जैसे कही गयी है उसे अपनानी. ऋग्वेदकी ऋचाओंके बारेमें कौन सी कब बोलनेकी इसके विधानोंके अनुसार पुरुषसूक्त आदिद्वारा की जाती पूजा वैदिकी होती है. तन्त्रागम और पुराणों में कही गयी दूसरे प्रकारकी पूजा होती है. श्रवण तो श्रुति स्मृति पुराण इतिहास रामायण आदिके वचनोंका लेना चाहिये. 'आदि'पदका अभिप्राय चिन्तन लीलानुकरण आदिके रूपमें समझना चाहिये. अन्य किसीकी भी अपेक्षा श्रवणकी प्रधानता जाननी चाहिये. अतएव महाभारतमें कहा गया है कि "सभी आश्रमोंमेंसे गुजरना या सभी तीर्थोंका अवगाहन भी उतना फलदायी नहीं होता जितनी नारायणकथा होती है" (महाभा.).

अवतरणिका :

व्यावृत्तिराहित्येन भजनासम्भवे उपायान्तरम् आहुः :

कारिका :

व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा॥

ततः प्रेम तथा आसक्तिर् व्यसनं च यदा भवेत्॥३॥

बीजं तद् उच्यते शास्त्रे दृढं यद् नापि नश्यति॥

भावानुवाद :

(जो अव्यावृत्त न हो पाते हों उनकी भक्तिके वृद्धिके उपाय)

यदि कोई व्यावृत्त भी हो तो हरिमें श्रवण आदिमें चित्त लगानेका यत्न सदा करना चाहिये. इसीसे प्रेम तथा आसक्ति और व्यसन भी जब प्रकट हो जायेंगे.

कि शास्त्रमें दृढ बीज उसे कहते हैं जो कभी नष्ट न होता हो॥३-४॥

विवृति :

व्यावृत्तोऽपि इति, व्यासक्तोऽपि सन् हरौ त्रिविधदुःखहरणशीले चित्तं विधाय पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत् यत्नं कुर्याद् इति अर्थः. 'यतेद्' इति परस्मैपदं नामधातुना ज्ञेयम्. भगवच्चरणारविन्दयोः चित्तं संस्थाप्य बाह्यश्रवणादौ कृतस्य यत्नस्य निष्फलत्वेऽपि न स्वार्थहानिः इति भावः. अतएव एतद्वचनमपि "क्रियासु यत् त्वच्चरणारविन्दयोः आविष्टचित्तो न भवाय कल्पते" (भाग.पुरा.१०।२।३७) इति. हरौ चित्तम् इत्यनन्तरं क्रियापदम् अध्याहृत्य अग्रे योजनीयम्. 'सदा' इत्येतद् उभयत्र सम्बध्यते. एवंकृते यद् भवति तद् आहुः ततः इति. प्रेम स्नेहः. आसक्तिः तद्विना स्थातुम् अशक्तिः. व्यसनं स्वभावतएव तद्वार्तादिरुचिः न अन्यप्रेरणातः. इदं सर्वं यदा भवेत् सम्पद्यते तदा एतत्त्रितयसम्पत्तिरूपं शास्त्रे भगवच्छास्त्रे दृढं बीजम् इति व्यवहियते. दाढ्यमेव स्पष्टीक्रियते यद् नापि नश्यति इति.

अनुवाद :

व्यावृत्तिसे रहित हो कर भजना सम्भव न हो तो उपायान्तर समझाते हैं :

व्यावृत्त भी हो अर्थात् लौकिक या वैदिक कर्तव्योंमें जुटे रहनेसे छूट न पाता हो तब भी हरिमें जो त्रिविध दुःखोंको हरनेवाले हैं चित्त पूर्वोक्त श्रवण आदिमें लगानेको यत्न करना चाहिये. 'यतेद्' (मूल संस्कृतमें) नामधातुके परस्मैपदका रूप है. भगवान्के चरणारविन्दोंमें चित्त लगा कर बाह्य जो श्रवणादिके लिये किये गये यत्नके निष्फल होनेपर भी किसी तरहकी अभिलषित भावकी हानि नहीं होती. अतएव एतद्वचनमपि "क्रियाओंके करते रहनेपर भी जिसका भगवान्के चरणारविन्दोंमें

लगा रहता हो उसका पुनर्जन्म नहीं होता” (भाग.पुरा.१.०।२।३७). हरिमैं चित्त इसके बाद क्रियापदका अध्याहार करके योजन करना चाहिये. ‘सदा’ पदको दोनों तरफ जोड़ लेना चाहिये. ऐसा करनेसे क्या होगा सो समझाते हैं इसीसे अर्थात् प्रेम स्नेह. आसक्ति उसके बिना रह न पाना. व्यसन स्वभावतः उसकी वार्ता आदिमें रुचि होना किसीकी प्रेरणाके बिना ही. यह सब कुछ जब होगा सम्पन्न होगा तब इन तीनोंका सम्पन्न हो जाना शास्त्रमें भगवच्छास्त्रमें दृढ़ बीज माना जाता है. इसी दृढ़ताका खुलासा करते हैं जो कभी नष्ट न होता हो इस अंशसे.

अवतरणिका :

प्रेमादीनाम् असाधारणं तत्तत् कार्यम् आहुः :

कारिका :

स्नेहाद् रागविनाशः स्याद् आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः ॥४॥

गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वं च भासते ॥

यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि ॥५॥

भावानुवाद :

(भक्तिकी इन तीन प्रेम आदि अवस्थाके फल)

स्नेहके कारण रागका विनाश होता है आसक्तिके कारण गृहमें अरुचि होती है. गृहस्थ बाधक और अनात्मीय लगने लगते हैं. जब भी कृष्णके बारेमें व्यसनभाव सिद्ध हो जाता है तभी ही जीव कृतार्थ ही हो जाता है ॥४-५॥

विवृति :

स्नेहाद् इति. रागो भगवदतिरिक्तविषयकः. गृहारुचिः इति, गृहे

अरुचिः=अनासक्तिः. गृहस्थानाम् इति, गृहविषयकरागाद्यभावे स्त्रीपुत्रादिपोषणासम्भवरूपदोषोद्भावनेन अविवेकिनां गृहस्थानां परमपुरुषार्थसाधकयोरपि अनयोः धर्मयोः बाधकत्वमेव भासते, अनधिकारित्वाद् अनात्मत्वं च इति, आत्मनो भाव आत्मत्वम्. ‘भाव’पदेन स्वाभाविकधर्मः उच्यते, तेन “न अयम् आत्मनः स्वधर्मः” इत्येवं भासते. वस्तुतस्तु ज्ञानं तेषां नास्ति इति ज्ञापनार्थं भासते इति उक्तम्. व्यसनकार्यम् आहुः यदा स्याद् इति, यस्मिन् काले स्वभावतो यत्किञ्चित्क्रियमाणमपि भगवद्विषयकमेव स्फुरति, तदा किं वक्तव्यं कृतार्थतायाम्! इति अर्थः. ‘हि’शब्दः प्रह्लादादौ प्रसिद्धिद्योतनार्थः, प्रह्लादस्य एवंविधत्वं विष्णुपुराणे श्रूयते “या प्रीतिः अविवेकानां विषयेषु अनपायिनी त्वाम् अनुस्मरतः सा मे हृदयाद् मा अपसर्पतु” (वि.पुरा.१।२०।१९) इति.

अनुवाद :

प्रेम आदिके असाधारण विभिन्न परिणाम समझाते हैं :

स्नेहके कारण अर्थात् राग भगवान्के सिवा अन्य विषयोंमें राग. गृहमें अरुचि अर्थात् घरमें अनासक्ति. गृहस्थ अर्थात् घरमें जब राग न रह जाता हो स्त्री पुत्र आदिके पोषण कैसे शक्य रह जायेगा ऐसी दोषबुद्धि घरमें रहनेवाले अविवेकी जनोंको होगी ही. वैसे तो ये प्रेम और आसक्ति परम पुरुषार्थके साधक होते हैं फिरभी ये धर्म बाधक लगने लगते हैं, घरमें साथ रहनेवाले अधिकारी नहीं होनेके कारण. अनात्मीय आत्मा होना भाव आत्मत्व होता है ‘होना’पदका अभिप्राय आत्माका स्वाभाविक धर्म कहा जाता है, अतः यह “यह आत्माका अपना धर्म नहीं” इस तरह उन्हें लगने लगता है. वस्तुतः तो घरमें साथ रहनेवाले ये जान ही नहीं पाते यह जतानेको लगते हैं ऐसे कहा. व्यसनका परिणाम अब समझाना चाहते हैं जब... सिद्ध हो जाता है ऐसा कह कर. जब भी स्वभावके वश कुछ करने-धरनेका प्रसंग उपस्थित होता है ऐसे सभी

प्रसंगोंमें भगवान्‌के बारेमें स्फुरण होता है, तब जीवकी कृतार्थताके बारेमें क्या कहना!। ‘ही’शब्दका प्रयोग प्रह्लाद आदिकी कथामें ऐसी अवस्था प्रसिद्ध यह जतानेको कहा , प्रह्लाद ऐसे ही थे यह विष्णुपुराणमें मिलता है “विवेकहीन व्यक्तिओंको जैसी प्रीति विषयोंके बारेमें होती है वैसे तेरे अनुस्मरण करते समय मेरे हृदयसे कभी निकल नहीं जानी चाहिये” (विष्णुपु.१।२०।१९)।

कारिका :

तादृशस्यापि सततं गृहस्थानं विनाशकम्॥

भावानुवाद :

ऐसा भक्त होनेपर भी निरन्तर घरमें ही बसना कभी भक्तिभावका विनाशक हो सकता है॥

विवृति :

तादृशस्यापि इति, उक्तस्नेहादिमतोऽपि गृहस्थस्य गृहरूपं स्थानं सततं सर्वदैव विनाशकं विनाशहेतुः. स्नेहादिसम्पत्तेः पूर्वमेव विनाशकत्वेऽपि तत्सम्पत्त्यनन्तरं तथा न भविष्यति इति मनसि गृहस्थैः न धार्यम् इति भावः. अत्र विनाशकत्वं प्रतिबन्धकत्वमेव. यद्वा तादृशस्यापि सततं गृहएव स्थानं स्थितिः इति. ईदृशगृहस्थेन मध्ये-मध्ये भगवद्भक्त-पुण्यक्षेत्र-नद्यायतनेषु अटनं कार्यं नतु गृहमात्रैकस्थितिशीलतया भाव्यम् इति भावः.

अनुवाद :

ऐसा भक्त होनेपर भी अर्थात् कहे गये प्रकारसे भगवान्‌के बारेमें स्नेहभावसे सम्पन्न होनेपर भी गृहस्थका घरमें बसना निरन्तर अर्थात् सर्वदा रहना विनाशक विनाशका हेतु बन सकता है. भगवत्स्नेहसे जब सम्पन्न नहीं था तभी विनाश हो सकता उसके सम्पन्न होनेके बाद नहीं इस तरह सोचना एक गृहस्थके लिये आवश्यक नहीं.

यहां विनाशक होना यानि भक्तिभावमें प्रतिबन्ध होनेके अर्थमें समझना चाहिये. अथवा ऐसा भक्त होनेपर भी निरन्तर घरमें... ही बसना स्थिति. ऐसे गृहस्थको बीच-बीचमें कभी-कभाक भगवद्भक्तोंके, पुण्यक्षेत्ररूप नदियोंके किनारे भी यात्रा आदि करता रहना चाहिये नकि केवल घरमें ही बने रहना.

अवतरणिका :

पूर्वं गृहस्थितस्यैव श्रवणादि उक्तम् इदानीं तस्य बहुप्रतिबन्धत्वानुसन्धानेन समीहितासिद्धिम् आशंक्य निःप्रत्यूहोपायम् आहुः :

कारिका :

त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु तदर्थार्थैकमानसः॥६॥
लभेत सुदृढां भक्तिं सर्वतोऽपि अधिकां पराम्॥

भावानुवाद :

भगवान्‌में मन लगा कर केवल भगवत्प्राप्तिको लक्ष्यमें रख कर जो घरका त्याग करके भजनका प्रयत्न करनेवालेको सुदृढ़ सर्वतो अधिक परा भक्तिका लाभ मिल जाता है॥५-७॥

विवृति :

त्यागं कृत्वा इति. यः पुरुषः सकलदुःखाकरगृहत्यागं कृत्वा पूर्वोक्तश्रवणादिषु यतेत्, सः सुदृढाम् अत्यन्तदृढाम् अन्यैः प्रतिबन्धसहस्रैरपि अतिरस्कृताम्. सर्वतोऽपि ज्ञानादिभ्योपि अधिकाम् अधिकफलदायिनीं परां भगवत्प्राप्तेः चरमकारणभूतां भक्तिं लभेत् प्राप्नुयाद् इति अर्थः. तं विशदयन्ति तदर्थार्थैकमानसः इति, स भगवानेव असौ अर्थः तदर्थः, अर्थः= प्रयोजनं उद्देश्यम् इति यावत्. सच असौ एकश्च अर्थः तदर्थः सएव अर्थैकः, तदर्थार्थैकः, तस्मिन् मानसं मनो यस्य इति. एवंविधः

सन् यतेद् इति पूर्वेण अन्वयः. यतेद् इति घञर्थे 'कं' कृत्वा पश्चात् नामधातुत्वात् परस्मैपदं ज्ञेयम्.

अनुवाद :

पहले घरमें रहनेवालेको श्रवणादिका उपदेश किया अब उसे बहुत प्रतिबन्धोंके उठ खड़े होनेका भय लगता हो तो जैसा सोचा वैसा फल सिद्ध नहीं होगा ऐसी आशंका होनेपर निर्दोष उपाय समझाते हैं :

त्याग करके अर्थात् जो पुरुष सभी तरहके दुःखोंके स्थानरूप घरका त्याग करके पूर्वोक्त श्रवणादिके हेतु प्रयत्न करता है, वह सुदृढ़ अत्यन्त दृढ़, हजारों तरहके प्रतिबन्धोंसे भी न डिगनेवाली. सर्वतो ज्ञानादिसे भी अधिक अधिक फलको प्रदान करनेवाली परा भगवत्प्राप्तिमें चरम कारण बन पानेवाली भक्ति सिद्ध होती है पा लेता है. एतदर्थ अधिकारी कौन हो सकता है उसे सविस्तर प्रतिपादित करते हैं भगवान्में मन लगा कर केवल भगवत्प्राप्तिको लक्ष्यमें रख कर अर्थात् उस भगवान्की ही जिसे चाह हो ऐसा, और प्रयोजन या उद्देश्य भी केवल भगवत्प्राप्ति ही हो. ऐसा एकमात्र विषय और एकमात्र प्रयोजनवाले मानस मनवाला हो कर जो प्रयत्न करनेवालेको . मूल संस्कृत कारिकामें यतेद् प्रयोग नामधातुके साथ 'घञ्' प्रत्यय जोड़ कर परस्मैपदमें निष्पन्न किया गया है.

अवतरणिका :

ननु त्यागरूपोपाये विद्यमाने किम् अन्योपायकथनम् इत्यतः आहुः :

कारिका :

त्यागे बाधकभूयस्त्वं दुःसंसर्गात् तथा अन्नतः ॥७॥

भावानुवाद :

दुःसंग और अन्नदोष के कारण घरके त्यागमें

बहुत सारे प्रतिबन्धोंकी सम्भावना रहती है.

विवृति :

त्यागे इति, त्यागसिद्धौ सर्वं सुकरम्. सैवतु न उपपद्यते. तत्र हेतुः बाधकानां प्रतिबन्धकानां भूयस्त्वं बाहुल्याद् इति अर्थः. तत्र हेतुः दुःसंसर्गात्, दुष्टानां भगवद्बहिर्मुखाणां यः संसर्गः=सम्बन्धः शारीरादिः तस्माद् इति अर्थः. तथैव अन्नतः दुष्टाद् अन्नाद् इति अर्थः. अन्नदोषास्तु पञ्चमहायज्ञाकरणाद् भगवदनिवेदनात् च उद्भवन्ति इति ज्ञेयम्. श्रुतिरपि “मोघम् अन्नं विन्दते अप्रेचताः. सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य. न अर्यमाणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादिः” (ऋक्संहि.१.०११.७६) इति. अर्थस्तु : ‘अप्रेचताः’=मूढो ‘मोघं’=व्यर्थम् ‘अन्नं विन्दते’=प्राप्नोति. यतः सो अन्नलाभः तस्य वधएव. इदन्तु सत्यमेव अहं ब्रवीमि न मृषा इति अर्थः. किञ्च ‘अर्यमाणं’=सूर्यं न पुष्यति, देवयज्ञाकरणात्. उपलक्षणम् एतद् देवतामात्रमपि. ‘सखायं’=अतिथिं ‘नो’=न पुष्यति, मनुष्ययज्ञाकरणात्; किन्तु स्वयमेव अश्नाति, अतः केवलादी पुमान् केवलाघएव भवति. तद् अन्नं न अति किन्तु पापम् अति इति अर्थः. इमम् अर्थं भगवानपि आह “यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः. भुञ्जन्ते ते तु अघं पापाः ये पचन्ति आत्मकारणात्” (भग.गीता.३.१३) इति. अनिवेदितभक्षणेऽपि दोषः श्रूयते “अम्बरीष! नवं वस्त्रं फलं अन्नाद्यम् औषधम् अनिवेद्य हरेः भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी” (...पुरा. । ।) इति पुराणान्तरे.

अनुवाद :

यहां एक शंका उठ सकती है कि जब त्यागरूप उपाय सुकर हो तो दूसरे उपायोंका सहारा क्यों लेना? समाधान देते हैं :

घरके त्यागमें अर्थात् त्याग सिद्ध होता हो सभी बातें सुशक्य बन सकती हैं परन्तु सच्चा त्याग सिद्ध होना ही बहुत दुष्कर बात

होती है। इसमें हेतु यह है कि प्रतिबन्धोंकी विघ्नोंकी बहुत सारे प्रचुरता होती है। इनमें कारणभूत होते हैं दुःसंग, दुष्ट भगवद्बहिर्मुखोंका संग=सम्बन्ध शारीरिक आदि रूपोंमें इसके कारण बहुत प्रतिबन्ध आड़े आ सकते हैं। इसी तरह अन्न... दुष्ट अन्नके भक्षणसे मति दुष्ट हो सकती है। अन्नके दोष उत्पन्न होते हैं पांच महायज्ञोंको न करनेके कारण भगवान्को निवेदित न करनेके कारण भी। श्रुति भी यह कहती है “असावधान व्यक्तिको अन्न भी निरर्थक ही मिलता है। क्योंकि यह सत्य कहते हैं कि ऐसा अन्न उस व्यक्तिके वधके जैसा होता है जैसे अन्नसे कोई न तो अर्यमाका पोषण करता हो और न मित्रका ही अकेले भोजन करनेवाला केवल पापभक्षी ही होता है” (ऋक्संहि.१०।११।७।६) इति। अर्थस्तु : ‘असावधान’=मूढ़ ‘निरर्थक’=व्यर्थ ‘अन्न मिलता’=प्राप्त करता है। क्योंकि ऐसा अन्नलाभ उसके वध जैसा ही होता है। ‘यह सत्य कहते हैं’=मिथ्या नहीं कह रहे हैं। क्योंकि ‘अर्यमा’=सूर्यका पोषण, देवयज्ञोंके कारण होता है। यह तो उपलक्षण है। ‘मित्र’=अतिथिका भी पोषण न करनेवाला, मनुष्ययज्ञ न करनेवाला स्वयमेव भोजन करता होनेसे, अकेले भोजन करनेवाला पुरुष केवल पापभक्षी ही होता है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति अन्न नहीं प्रत्युत पापोंका भक्षक होता है। यही बात भगवान्ने भी “यज्ञके बाद अवशिष्ट अन्नका भोजन करनेवाला सारे पापोंसे छुटकारा पाता है। जो केवल अपनेलिये रसोई बनाता है वह तो अन्नके पापसामग्री सिद्ध करता होता है” (भग.गीता.३।१३) कहा है। भगवान्को निवेदित न किया गया हो ऐसे अन्नके भक्षणमें भी दोष माना गया है “अम्बरीष! नया वस्त्र फल अन्नादि औषध का श्रीहरिको निवेदित किये बिना भोग करनेवाला सात जन्म तक नारकी रहता है” (...पुरा. । ।) ऐसा भी किसी पुराणमें कहा गया है।

अवतरणिका :

त्यागस्य अशक्यत्वम् उक्त्वा सुशक्योपायम् आहुः :

कारिका :

अतः स्थेयं हरिस्थाने तदीयैः सह तत्परैः ॥

अदूरे विप्रकर्षे वा यथा चित्तं न दुष्यति ॥८॥

भावानुवाद :

अतः हरिके स्थानमें हरिके भजनमें परायण भगवदीय जनोंके साथ, जैसे अपने चित्तमें दोषभाव न जगे वैसे न बहुत समीप और न बहुत दूर रहना चाहिये ॥८॥

विवृति :

अतः इति उक्तहेतोः हरिस्थाने भगवदधिष्ठितप्रदेशे तत्परैः भगवदेकपरैः तदीयैः भगवदीयैः भक्तैः सह अदूरे नैकट्यं यथा स्यात् तथा स्थेयम् इति अर्थः। अतिनैकट्यासम्भवे विप्रकर्षे वा किञ्चिददूरेपि स्थेयं नतु अतिदूरे इति भावः। ननु एवं स्थितौ किम्? अतः आहुः यथा इति, येन प्रकारेण स्थितिः उक्ता तथाकरणे चित्तम् अन्तःकरणं न दुष्यति न दोषग्रस्तं भवति इति अर्थः।

अनुवाद :

त्यागकी अशक्यता दिखला कर अब सुशक्य उपाय दिखलाना चाहते हैं अतः इस कहे गये हेतुके वश हरिके स्थानमें जहां भगवान् बिराजमान हों ऐसे प्रदेशमें हरिके भजनमें परायण भगवत्पर भगवदीयों भगवदीय भक्तोंके साथ न बहुत समीप निकटता जैसे भी निभ पाये वैसे रहना चाहिये ऐसा आशय है। बहुत समीप रहना शक्य न हो तो अथवा न बहुत दूर कुछ दूर रहना अर्थात् अतिदूर न रहना। इस तरह रहनेसे क्या लाभ वह दिखलाते हैं जैसे अर्थात् जिस तरह रहनेको कहा गया वैसे रहनेसे चित्तमें अन्तःकरणमें दोषभाव नहीं उभरेंगे अतः चित्त दोषोंसे ग्रस्त नहीं होगा।

कारिका :

सेवायां वा कथायां वा यस्य आसक्तिर् दृढा भवेत् ॥

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिर् मम ॥९॥

भावानुवाद :

या तो सेवाके बारेमें या तो कथाके बारेमें जिसकी आसक्ति दृढ़ हो जाती है उसका कहीं भी जीवनकालमें नाश नहीं होता ऐसी मेरी मति है ॥९॥

विवृति :

एवं भगवदीयैः सह स्थितौ यस्य परमभाग्यवतः सेवायां स्वशरीरसाध्ये भगवद्भजने कथायां तद्गुणश्रवणे वा आसक्तिः तद् विहाय स्थातुम् अशक्तिः दृढा निश्चला भवेत् तस्य पुंसो यावज्जीवं आदेहपातं क्वापि कस्मिंश्चिद् देशे काले वा नाशो अन्यथाभावो न भवति. इति अस्मिन् अर्थे मम मतिः सम्मतिरेव इति अर्थः. 'वा'शब्दौ अन्योन्यं समुच्चिनुतः.

अनुवाद :

इस तरह भगवदीयोंके साथ रहनेपर जिसकी किसी परम भाग्यवान्की सेवाके बारेमें स्वयंके शरीरसे साध्य भगवान्के भजनमें कथाके बारेमें अथवा भगवान्के गुणोंके श्रवणके बारेमें आसक्ति उसके बिना रह न पाना दृढ़ स्थिर हो जाती है उसका ऐसे व्यक्तिका जीवनकालमें जब तक देहपात पर्यन्त कहीं भी किसी भी देश अथवा किसी भी कालमें नाश अन्यथाभाव नहीं हो पाता. इस विषयमें मैं मेरी मति सम्मति ही है. 'या तो'का दो बार प्रयोग एकदूजेको साथ समझनेको है.

अवतरणिका :

ननु एवं सति पूर्वोक्तत्यागस्य वैयर्थ्यमेव उत सार्थकत्वमपि? इति आकांक्षायाम् आहुः :

कारिका :

बाधसम्भावनायान्तु न एकान्ते वास इष्यते ॥

हरिस्तु सर्वतो रक्षां करिष्यति न संशयः ॥१०॥

भावानुवाद :

किसी तरहके प्रतिबन्धकी सम्भावना हो तो एकान्तमें वास तो करना नहीं चाहिये हरि तो सभी तरहसे रक्षा करेंगे ही इस विषयमें संशय न होनेपर भी ॥१०॥

विवृति :

बाध...इति. त्यागे सर्वथा बाधः सम्भावितः चेद् भवेद् न तत्कृतः तदा एकान्ते वासः सर्वत्यागपूर्विका स्थितिः अरण्यादौ न इष्यते न सम्मता इति अर्थः. तदभावेतु इष्टैव इति भावः. ननु एकान्तस्थितौ व्याघ्रादिभिः अपमृत्युरपि सम्भाव्यते वरं तदपेक्षया गृहस्थितिः! इत्यतः आहुः हरिस्तु इति, 'हरि'शब्दार्थस्तु पूर्वोक्तो अनुसन्धेयः. 'तु'शब्दः प्रसिद्धौ. सर्वतः सर्वदुःखहर्ता रक्षणं करिष्यति-एव न संशयः इति अर्थः.

अनुवाद :

ऐसी स्थितिमें पूर्वोक्त त्याग व्यर्थ ही सिद्ध होगा या उसकी कोई सार्थकता भी बचती है? ऐसी आकांक्षाको शान्त करनेको कहते हैं :

प्रतिबन्ध...अर्थात् सब कुछ त्याग करके भक्तिकी साधना करने जानेपर प्रतिबन्ध सर्वथा सम्भावित लगता हो तो एकान्तमें वास करना... सब कुछ त्याग कर वन आदिके एकान्तमें वास नहीं करना चाहिये यह सम्मत प्रकार नहीं है. प्रतिबन्धकी सम्भावना न हो तो एकान्तवासमें किसी तरहकी कोई आपत्ति नहीं. एकान्तमें बसनेपर व्याघ्रादिके कारण अपमृत्युकी भी सम्भावना हो तो घरमें रहना कैसे बुरा माना जा सकता है! इस लिये कह रहे हैं हरि तो अर्थात्

‘हरि’शब्दका जो अर्थ पहले कह चुके हैं उसका अनुसन्धान करना चाहिये. ‘तो’ शब्द यह प्रसिद्ध है ऐसा सरसाने प्रयोग किया गया. सभी तरहसे सभी तरहके दुःखोंको हरनेवाले रक्षण करेंगे ही संशय न नहीं रखना चाहिये.

अवतरणिका :

उपसंहरन्ति :

कारिका :

इति एवं भगवच्छास्त्रं गूढतत्त्वं निरूपितम् ॥
य एतत् समधीयीत तस्यापि स्याद् दृढा रतिः ॥११॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता भक्तिवर्धिनी समाप्ता

भावानुवाद :

इस तरह गूढ तत्त्ववाले भगवच्छास्त्र का निरूपण हुवा. जो इसका भलीभांति अध्ययन करेगा उसे भी भगवान्में रति दृढ़ होगी ॥११॥

इस तरह श्रीमद्वल्लभाचार्यद्वारा विरचित भक्तिवर्धिनी समाप्त हुयी

विवृति :

एवम् उक्तप्रकारेण भगवच्छास्त्रं भगवत्सम्बन्धिशास्त्रं शिक्षणं गूढं गुप्तं तत्त्वं यस्य तादृशं निरूपितम्. यः पुमान् एतदुक्ताचरणे अशक्तः सन् एतच्छास्त्रम् उपादित्सुः सम्यग् अधीयीत अर्थानुसन्धानपूर्वकं पठेत् तस्यापि एतच्छास्त्रोक्ता रतिः दृढा भवेद् इति अर्थः.

अनुवाद :

ग्रन्थका उपसंहार करते हैं :

इस तरह जैसे कहा गया वैसे प्रकारसे भगवच्छास्त्र भगवान्से

सम्बन्धित शास्त्र सीख गूढ़ गुप्त तत्त्व वाला निरूपित किया. जो पुरुष इसमें कहे गये उपदेशको आचरणमें न ला पानेको अशक्त होनेपर भी इस शास्त्रका ग्रहण करनेको भलीभांति अध्ययन अभिप्रेतार्थके अनुसन्धानके साथ पाठ करेगा उसे भी इस शास्त्रमें कही गयी रति दृढ़ होगी.

भक्त्यङ्कुरितचित्तस्यस्य तदुद्रेकाय साम्प्रतम् ॥
आचार्यास्यामृतोदभूता विवृता भक्तिवर्धिनी ॥२॥

इति श्रीवल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथकृतौ
भक्तिवर्धिनीविवरणं
सम्पूर्णम्

भक्तिभाव-अङ्कुरितचित्तमें भक्ति पल्लवित-पुष्पित हो ॥
महाप्रभुके मुखसे अमृतवर्षा सी भक्तिवर्धिनीकी टीका हो ॥२॥

इस तरह श्रीवल्लभनन्दनके चरणैकशरण श्रीरघुनाथद्वारा कृत
भक्तिवर्धिनीका विवरण
सम्पूर्ण हुवा



उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अ	पृष्ठ
अखडं कृष्णवत्...	ग्र.परि. ९
(त.दी.नि.)	
अन्नमयं हि सौम्य !...	९५
(छान्दो.उप.६।५।४)	
अन्ये (इतरे)षां च अनुपलब्धे:...	८४
(ब्र.सू.२।१।२)	
अन्वयव्यतिरेक्त:...	४
(भाग.पुरा.१।१।१)	
अपाणिपादो...	८४
(श्वेता.उप.३।१९)	
अपि वा तम् आदेशम् अप्राक्षो...	२८
(छान्दो.उप.६।१।२-३)	
अथ उषसि...	४
(भाग.पुरा.१०।६।७।१)	
अपृच्छा यस्तु यां काञ्चित् ...	१४५
(वि.ध.पु. १।१)	
अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा...	३६
(बृह.उप.४।५।१४)	
अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः...	१३०
(भग.गीता.७।६)	

आवृत्तिर् असकृद् उपदेशाद् ...	२९
(ब्र.सू.४।१।१)	
उ	
उच्छिष्टभोजिनो दासा:...	१६३
(भाग.पुरा.११।६।४६)	
उत्क्रान्तिगत्यागती...	४
(ब्र.सू.२।३।१९)	
ऐ	
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् ...	२८
(छान्दो.उप.६।७।७)	
क	
कं ब्रह्म खं ब्रह्म...	३३
(छान्दो.उप.४।१०।४)	
कालं कर्म स्वभावं च.....	७४
(भाग.पुरा.२।५।२१)	
क्रियासु यत् त्वच्चरणारविन्दयो:...	२३१
(भाग.पुरा.१०।२।३७)	
च	
चैद्ये च सात्त्वतपते: चरणं...	६९
(भाग.पुरा.१०।७।२।८)	
ज	
जन्माद्यस्य यतः...	४
(ब्र.सू.१।१।२)	

त

तत् त्वम् असि... २८, २९

(छान्दो.उप.६।७।७)

तद् आहुः अक्षरं ब्रह्म... ६७

(भाग.पुरा.३।११।४१)

तद् एजति तद् न एजति... १९१

(इशा.उप.५)

तद् विप्रास... २०६

(ऋक्संहि.१।२२।२०-२१)

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविदः... २०५

(ऋक्संहि.१।१५६।३)

ताः न अविदन् मयि अनुषंगबद्धधियः... १८८

(भाग.पुरा.१।१।१२।१२)

त्रैवर्गिकायास... १६३

(भाग.पुरा.६।११।२३)

द

दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् ... १६३

(भाग.पुरा.१।१।३।२८)

न

नित्यं सर्वगतं स्थाणु... ४

(भग.गीता.२।२४)

प

प्रजायेय... ४७

(तैत्ति.उप.२।६)

ब

बहूनां जन्मनाम् अन्ते... ५३

(भग.गीता.७।१९)

बीजं तद् उच्यते शास्त्रे... २२७

(भ.व.४)

भ

भक्तेरपि स्वाश्रयधर्मसहित... ग्र.परि.१५

(त.दी.नि.प्र.२।१९६)

भक्त्यातु अनन्यया शक्यः... १०१

(भग.गीता.१।१।५४)

भजति मां सर्वभावेन... २०५

(भग.गीता.१।५।१९)

‘भू’ = सत्तायाम् ... ८९

(धा.पा.१।१)

भेदः पारमार्थिकः इति... ग्र.परि. ३

(सुबो.३।३२।३७)

म

मल्लिंग-मदभक्तजन-दर्शन... १९६

(भाग.पुरा.१।१।१।३४)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य... १४९

(भग.गीता.४।३०)

मामेव ये प्रपद्यन्ते... २४

(भग.गीता.७।१४)

मोघम् अन्नं विन्दते अप्रचेताः... २३७

(ऋक्संहि.१०।११।७।६)

य

यः पृथिव्यां तिष्ठन् ... ४२
(बृह.उप.३।७।३)

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते... २३७
(भग.गीता.३।१३)

यद् वै किञ्चन... ९
(तैत्ति.संहि.२।२।१०।२)

यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गा... २०
(बृह.उप.२।१।२०)

यथा जलं तथा सर्वं ... ग्र.परि. ५
(सिद्धा.मुक्ता.९)

यमेव एष वृणुते... १७६
(कठोप.२।२२)

या प्रीतिः अविवेकानां... २३३
(वि.पु.१।२०।१९)

यो माम् एवम् असम्मूढः... २०५
(भग.गीता.१५।१९)

व

वाचारम्भण... ४७
(छान्दो.उप.६।१।४)

वासुदेवे मनो यस्य ... १४२
(वि.पुरा.१।६।४३)

श्र

श्रिया पुष्ट्या गिरा... १३,१६
(भाग.पुरा.१०।३६।५५)

श्रुतं द्वैपायनमुखाद्... २
(भाग.पुरा.६।१४।९)

स

स वै नैव रेमे... १३,१४
(बृह.उप.१।४।३)

सएव हि जगत्कर्ता... ग्र.परि. ५
(त.दी.नि.१।७७)

सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्... ९७
(भग.गीता.१४।१७)

सदेव , सौम्य ! ... २८
(छान्दो.उप.६।२।१)

सद् अधिभूतं , चिद् अध्यात्मम् ... ५
(त.दी.नि.प्र.२।१२०-१२१)

सर्वं खलु इदं ब्रह्म ... १९५९
(छान्दो.उप.३।१४।१)

सर्वस्य वशी सर्वस्य इशान... ३६
(बृह.उप.४।४।२२)

सहजं कर्म , कौन्तेय !... १४५
(भग.गीता.१८।४८)

साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया... ग्र.परि. ८
(सुबो.१।७।४)

साकारब्रह्मवादैकस्थापको... ग्र.परि. ८
(सर्वो.स्तो.८)

सेतुः विधरणम् ... ३९
(द्रष्ट.छान्दो.उप.८।४।१)

सो अकामयत...

(तैत्ति.उप. २।६)

८७

श

शास्त्रार्थ ज्ञानाभावे...

(त.दी.नि.प्र. १।१०२)

ग्र.परि. १४

ह

हरामि अघं हि स्मर्तृणां...

(महाभा. ॥)

१२८



उद्धरण संकेतसूची

ग्रन्थसंकेत

अणु.भा.
ईशा.उप.
छान्दो.उप.
त.दी.नि.१
त.दी.नि.२
तैत्ति.उप.
बृह.उप.
ब्र.सू.
ब्र.सू.शां.भा.
भग.गीता.
भग.गीता.शां.भा.
भ.व.
भाग.पुरा.
महा.उप.
मुण्ड.उप.
याज्ञ.स्मृ.
वि.पुरा.
श्वेता.उप.
सर्वो.स्तो.
सि.मु.
सुबो.कारि.

ग्रन्थनाम

अणुभाष्य
ईशावास्य उपनिषद्
छान्दोग्य उपनिषद्
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध शास्त्रार्थप्रकरण
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध सर्वनिर्णयप्रकरण
तैत्तिरीय उपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
भगवद्गीता
भगवद्गीता शांकरभाष्य
भक्तिवर्धिनी
भागवत पुराण
महानारायणोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
याज्ञवल्क्यस्मृति
विष्णु पुराण
श्वेताश्वतरोपनिषद्
सर्वोत्तम स्तोत्र
सिद्धान्तमुक्तावली
भागवत सुबोधिनी कारिका

